AND

THE JAINA ANTIQUARY

Editors :

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
B. Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Ac. Gunratnasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी-हिन्दी-मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्
दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय ले
४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मं
में सुबिधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैने
जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक़ पता लगा सकते
मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर क़ी सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो,
इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल
शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृ
से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक
श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी
पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने
का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से
भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से जैन-तत्व के केवल
उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली, शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विनम्र विज्ञप्ति

यह चौथी किरण "जैन सिद्धान्त-भास्कर" के चौथे भाग की अन्तिम किरण है। जैन इतिहास, साहित्य एवं पुरातत्त्व को अन्यान्य विद्वानों के समक्ष उपस्थित कर जैनधर्म को ऐतिहासिक दृष्टि से सनातन साबित करना ही भास्कर का प्रधान लक्ष्य है। प्रसन्नता की बात है कि संस्कृत एवं अंग्रेजी के बड़े बड़े उद्भट पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान् भास्कर के इस पुनीत ध्येय और इसकी सफलता की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा सदा करते रहते हैं।

अस्तु, अब हम भास्कर के अनुग्राहक ग्राहक महोदयों को विज्ञप्त किये देते हैं कि इसके पांचवें भाग की पहली किरण जून महीने में नियमानुसार V. P. P. द्वारा भेजी जायगी। जिन भावुक ग्राहकों को किसी कारण पांचवें भाग से ग्राहक रहना मंजूर नहीं हो वे कृपया तीन पैसे खर्च कर कार्ड-द्वारा भास्कर-औफिस, आरा में सूचना भेज दें, जिससे इस धार्मिक संस्था के प्रत्येक V. P. P. पर व्यर्थ के पाँच आने पैसे खर्च न हों। मनिआर्डर द्वारा रुपये भेजने से ग्राहकों को ।≡) आने पैसे बचेंगे।

हमने 'भास्कर' को व्यापार के ख़याल से नहीं निकाला है। जीती-जागती जातियों में जैनी भास्कर-द्वारा अपना चिरन्तन अस्तित्व समझें, यही हमारा मुख्य लक्ष्य है। इसीलिये ग्राहकों की कृशता कितनी भी बढ़ जाये, भास्कर कभी अस्त न हो यह हमने मन में सोच रक्खा है। अब तक जितने गुणग्राही ग्राहक हैं और बन रहे हैं; उनकी गुण-ग्राहिता पर मुझे संतोष है तथा उन्हें अनंत धन्यवाद है। केवल साग्रह एवं विनम्र निवेदन यही है कि भास्कर के जो भी थोड़े-बहुत ग्राहक बनें वे जिनवाणी माता के प्रचारक हों, न कि V. P. P. लौटा कर उनके प्रचार में अड़ंगा डालते हुए एक सार्वजनिक जैन धर्म-संस्था को अलभ्य हानि पहुंचायें।

विनम्र विज्ञापक

निर्मल कुमार एवं चक्रेश्वर कुमार जैन

संचालक

"जैन-सिद्धांत-भास्कर"

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

(जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र)

भाग ४] फाल्गुन [किरण ४

सम्पादक-मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पण्डित के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९४

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

पृष्ठ

१ जैन सिद्धान्त का प्राचीन स्वरूप [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन] ... १९३

२ जैन हिन्दी-वाङ्मय [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] २००

३ दिल्ली के सुल्तान और कर्नाटक के जैन गुरु [श्रीयुत डा० भास्करानन्द सालेत्तुरु, एम० ए०, पी० एच० डी०] २०८

४ भगवान् पुष्पदन्त और पूज्यपाद स्वामी [श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री] ... २१६

५ क्या दिगम्बर समाज में तपागच्छ और खतरगच्छ थे? [श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा] २२५

६ हस्तसंजीवनम् [श्रीयुत बा० त्रिवेणी प्रसाद बी० ए०] २२९

७ बारकूरु (एक सुप्राचीन जैन राजधानी का ध्वंसावशेष) [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री] २३३

८ विविध-विषय (१) दिगम्बर जैनसंघ में भेदों की उत्पत्ति [श्रीयुत बा० का० प्र०] ... २४०

(२) कोन्डकुन्दाचार्य और आचार्य उमास्वाति " ... २४२

(३) रियासत जयपुर में प्राचीन जैनस्थान " ... २४३

(४) अष्टशाखा उपजाति " ... २४६

(५) कोपणतीर्थ की एक मूर्ति " ... २४६

(६) बंगाल में जैनधर्म [श्रीयुत बा० छोटेलाल जैन] ... २४८

(७) राजावली (मैनपुरी के गुटके परसे) [श्रीयुत बाबू का० प्र०] ... २४९

(८) जैनएन्टीक्वेरी के लेख [श्रीयुत बाबू का० प्र०] ... २५०

९ साहित्य समालोचना—स्तोत्र-मंत्र-सार-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... २५१

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ तिलोयपण्णत्ती [श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये] ... ... ४१ से ४८ तक

२ प्रशस्ति-संग्रह [" पं० के० भुजबली शास्त्री] ... ... ८९ से ९६ तक

३ वैद्यसार [" पं० सत्यन्धर आयुर्वेदाचार्य] ... ८९ से ९६ तक

अंग्रेजी-विभाग—

1. SOME BRAHMANICAL DEITIES IN JAINA RELIGIOUS ART (By Vasudeva Sharaṇa Agrawala, M.A., Curator, Mathura Museum) 83

2. THE ORIGIN OF THE SWETAMBARA SECT. (By C. R Jain) 93

3. IMPORTANT PAPERS TO JAINISM ETC. (The 9th All India Oriental Conference at Trivandrum 103

4. THE JAINA SIDDHANTA BHASKAR. (Gist of our Hindi portion: Vol III, Pt. IV) 110

5. AN APPEAL (To Members of the Jain Community) ... 111

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

|| श्रीजिनाय नमः ||

भास्कर

THE JAINA ANTIQUARY.
जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ४ | मार्च १९३८। फाल्गुन, वीर नि० सं० २४६४ | किरण ४

जैनसिद्धान्त का प्राचीन स्वरूप

(लेखक—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन)

वस्तु का प्रत्यक्ष प्रयोगों अथवा परोक्ष अनुमानों द्वारा प्रमाणित हो जाना सिद्धान्त है। जैन सिद्धांत आम्नाय-विशेष का सिद्धांत है जिसे सर्वन्तिमरूप भगवान् महावीर के समवशरण में प्राप्त हुआ था। दूसरे शब्दों में यूँ कहिये कि जिन भगवान्-द्वारा प्रमाणित और प्ररूपित हुआ प्रत्येक सिद्धांत जैन सिद्धांत है। वह केवल वस्तुस्थिति-रूप विज्ञान है, क्योंकि वह एक सर्वज्ञ तीर्थङ्कर का कथन है। निस्सन्देह वह पदाथ विज्ञान है जिसमें न केवल पार्थिव पदार्थों का ही विश्लेषण हुआ है; बल्कि आत्मविज्ञान भी भरा हुआ है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वह अपने वर्तमान-रूप में तद्रूप है?

दुनियां के ढंग को देखते हुये यह जी को नहीं भाता कि हज़ारों वर्षों पहले कही गई बात आज तक वैसी की वैसी चली आई हो—उसमें कुछ भी अन्तर न पड़ा हो। हमारा

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

रोज़मर्रे का अनुभव तो यह बताता है कि ज़रा-सी बात में भी लोग नमक-मिर्च लगाकर उसे अपनी रुचि के अनुकूल बना लेते हैं। अभी हाल में यू० पी० कांग्रेस-मिनिस्टिरी ने एक विज्ञप्ति लगान बकाया व बेदखली वगैरह की मुलतबी के लिये निकाली, किन्तु उसका अर्थ लगाया गया कि अब लगान माफ हो गया है। अब वह अदा नहीं किया जायगा। हठात् मिनिस्टरों ने इस ग़लतफहमी को दूर करने के लिये एक दूसरी विज्ञप्ति निकाली। जब मौजूदा पुरुषों के वचनों का इस तरह विपर्यय हो सकता है, तब यह कैसे मान लिया जाय कि आज से हज़ारों या लाखों वर्षों पहले हुए महापुरुषों के प्रवचन हमको ज्यों के त्यों मिल रहे हैं?

किंतु जैनसिद्धांत के विषय में एक खास बात है। वह जिन भगवान् का कहा हुआ है। इस काल के पहले जिन भ० ऋषभदेव थे और अन्तिम भ० महावीर वर्द्धमान। वर्द्धमान स्वामी को हुए ढाई हज़ार वर्षों से ज्यादा नहीं हुए हैं। परन्तु साधारण रीत्या इस काल में कथन का विपर्यय होना सहज है—निस्सन्देह भ० वर्द्धमान महावीर के प्रवचन ज्यों के त्यों आज उपलब्ध नहीं हैं—फिर भी उनके द्वारा निरूपित हुए सिद्धांतों में शङ्का नहीं की जा सकती! क्योंकि सिद्धांत की बातों में उक्त प्रकार शङ्का के लिये स्थान ही नहीं है। वह वस्तु-स्थिति है और वस्तुस्थिति में कभी अन्तर पड़ नहीं सकता। सिद्धांत है कि अग्नि के साथ धुआँ होता है—इसे कोई किसी काल में बदल नहीं सकता है। इसमें अन्तर पड़ ही नहीं सकता—यह निखिल सत्य है। इस बात को ध्यान में रख कर यदि उपलब्ध जैन सिद्धांत का अध्ययन किया जाय तो उसमें भ० महावीर के सिद्धांत को पा लेना असंभव नहीं है। सच तो यह है कि जो भी सिद्धांत प्रमाण—कसौटी पर पूरा न उतरे उसे सिद्धांत मानना ही न चाहिये—वह सिद्धान्ताभास है और किसी भी सर्वज्ञ जिन-द्वारा उपदिष्ट नहीं हो सकता। निम्नलिखित पंक्तियों में प्राप्त प्रमाणों द्वारा मुख्य जैनसिद्धांतों की यथार्थता का निरीक्षण करना अभीष्ट है। आशा है, पाठकों को यह रुचिकर होगा।

'जिन' शब्द जैनसिद्धांत की आधार-शिला है। वही जैनसिद्धांत का उद्गम-स्रोत है और उसका अर्थ रागद्वेष पर विजय प्राप्त करनेवाला है। विजय पर-वस्तु पर प्राप्त की जाती है। इसलिये रागद्वेष आदि भाव व्यक्ति की निज वस्तु नहीं हो सकते, परन्तु रागद्वेषादि भावों का अधिकरण वह व्यक्ति प्रत्यक्ष दिखता है। तब इसका भेद क्या है? भेद व्यक्ति के द्वैतरूप में छिपा हुआ है। 'जिन' शब्द के अर्थ में उक्त विरोध जीव और अजीव के अनादि मिश्र-रूप व्यक्ति की सिद्धि करता है। और जैनसिद्धांत की मूल भित्ति जीव और अजीव-तत्व पर निर्भर है। उससे स्पष्ट है कि जीव और अजीव का यद्यपि अनादि सम्बन्ध है और उसके कारण जीव का स्वाभाविक रूप प्रकट नहीं है, तो भी वह शाश्वत है और एक दिन अपने पुरुषार्थ से अपने को अजीव से अलग कर लेगा। दुःखों से छूटकर वह दर्शन-ज्ञानमय

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

निजरूप में अनंत सुखी हो जायगा। अतः देखिये यह 'जिन' शब्द कितना प्राचीन है, क्योंकि जितनी उसकी प्राचीनता होगी, उतनी ही जीव और अजीव-तत्त्व-व्याख्या-रूप जैन-सिद्धांत की प्राचीनता होगी। तब उसका मूलरूप जान लेना कठिन न होगा। मोइन-जो-दड़ो के एक मुद्रा-लेख पर 'जिनेश्वर' शब्द पढ़ा गया है, जैसे कि हम विशेषरूप में आगे लिखेंगे। इससे ई० पूर्व पांच हजार वर्ष पहले इस शब्द का अस्तित्व सिद्ध होता है।* शाकटायन आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने भी इस शब्द को व्यवहृत किया है।

प्राचीन बौद्धनिकाय ग्रन्थों में एक 'दीर्घनिकाय' है। उसके 'ब्रह्मजालसूत्र' में म० बुद्ध के पहले से एक ऐसे संप्रदाय का अस्तित्व बताया गया है, जो निम्न प्रकार अपने सिद्धांत का निरूपण करता था :—

"भिक्षुओ, पहले एक ऐसे ब्राह्मण-श्रमण हैं जो प्रयत्न और तीक्ष्ण विचार आदि-द्वारा हृदय आह्लाद की उस अवस्था में पहुंचते हैं, जिसमें वह हृदय में लीन होकर अपने मन-द्वारा एक दो, तीन, चार, पांच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, हजार, बल्कि लाख पूर्वभवों का स्मरण करते हैं। उस स्मरण में जानते हैं कि तब मेरा वह नाम था .... और मैं इतने वर्ष जीवित रहा था। वहां से मर कर मेरा जन्म यहां हुआ है। इस प्रकार पूर्व स्मरण अपने पहले के घर आदिरूप में कर लेता है और फिर वह विचारता है कि जीव नित्य है, लोक किसी नये पदार्थ को जन्म नहीं देता है। वह पर्वत की भांति स्थिर है—स्तंभ की तरह नियत है। यद्यपि यह जीव संसार में भ्रमण करते हैं और मरण को प्राप्त होते हैं। एक भव का अन्त करके दूसरे में जाते हैं, तो भी वे हमेशा वैसे ही रहते हैं।"

(Dial. Buddha, SBB. I)

इस उल्लेख में किसी संप्रदाय-विशेष का उल्लेख नहीं है, तोभी ग्रंथकार की मंशा बौद्धेतर संप्रदाय से होना स्पष्ट है। उस पर बौद्ध ग्रन्थ 'सुमंगलाविलासिनी' ने ऐसा ही मत भ० महावीर का बताया है। अतः उपर्युक्त उल्लेख में प्राचीन जैनसिद्धान्त का निरूपण हुआ मानना अनुचित नहीं है। जैनसिद्धान्त में कहा गया है कि जीव अपनी सासारिक अवस्था में जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ है, पर उस दशा में भी वह अपने सनातन स्वभाव को नहीं खोता। इसी कारण जैनाचार्य जीव को नित्य मानते हैं और इस लोक को अजीव-तत्त्व के साथ बना अनादि-निधन प्रकट करते हैं। जैनाचार्य अपने ध्यान की उत्कृष्टता में उस ज्ञाननेत्र को पा लेते हैं जिससे वह जीव के ध्रुव रूप, अजीव-सम्बन्ध और संसार-भ्रमण के प्रत्यक्ष दर्शन कर लेते हैं। प्रत्येक 'जिन' अतीत के अनन्त पूर्वभवों को देखते और बतलाते हैं। उनके अतिरिक्त अवधि-ज्ञानी मुनि भी अनेक पूर्वभवों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। तीर्थङ्करों के शिष्यों में

* इण्डियन हिस्टारिकल क्वारटर्ली, भाग ८, परिशिष्ट पृष्ठ १८

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ऐसे साधुओं का निर्देश हुआ मिलता है। पहले तीर्थङ्कर ऋषभदेव जी के संघ में केवल-ज्ञानी मुनि बीस हजार—चार ज्ञान के धारी १२७५० और अवधिज्ञानी मुनि नौ हज़ार थे। (आदिपुराण ४७।२०९—४३३) अंतिम तीर्थङ्कर भ० महावीर जी के संघ में उनकी संख्या क्रम से एक हजार पाँच सौ और तेरह सौ थी। यह सभी मुनिगण अपने पूर्वभवों का दिग्दर्शन करते थे और दूसरों के भी पूर्वभव बतलाते थे। जैनपुराण-ग्रन्थों में पूर्वभव बतलाकर जीवों को जैनधर्म का श्रद्धानी बनाने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। बौद्ध ग्रंथकार उपर्युक्त उद्धरण-द्वारा ऐसे ही जैनमुनियों और उनके सिद्धांतों का उल्लेख कर रहे हैं। वह सिद्धांत निश्चय और व्यवहार-दृष्टियों को स्पष्ट करते हुए ठीक वैसे ही हैं जैसे आज मिल रहे हैं।

सम्राट् खारवेल के हाथीगुफा वाले प्रसिद्ध शिलालेख में उल्लेख है कि जैनसम्राट् खारवेल पटना को जीत कर वहाँ से 'अग्रजिन'—ऋषभदेव की वह प्रतिमा कलिङ्ग को वापस लाये थे, जिसे एक नन्दराजा कलिङ्ग से उठा ले गये थे और उन्होंने कुमारीपर्वत पर तपश्चरण करके जीव और अजीव तत्त्वों के भेद को जान लिया था।[1] इस उल्लेख से 'जिन' शब्द का ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दी में उक्त भाव में प्रचलित होना सिद्ध है। तथा जीव-अजीव तत्त्व की मान्यता भी जैन संघ में प्राचीन काल से प्रमाणित है। किन्तु सब से प्राचीन ऐसा साक्षी सिंधुप्रदेश के मोहनजोदड़ो नामक स्थान से प्राप्त पुरातत्त्व है। वहाँ की मुद्रा नं० ४४९ पर जो लेख अङ्कित है उसे डा० प्राणनाथ ने 'जिनेश्वर' या 'जिनेशः' पढ़ा है।[2] रायबहादुर मि० रामप्रसाद चन्दा ने भी तत्कालीन सिंधुवासी लोगों को वेद-संप्रदाय से भिन्न व्रात्यमत का उपासक लिखा है और उस समय की मूर्तियों की ध्यानमुद्रा ठीक वैसी ही दरसाई है जैसी कि जिनमूर्तियों की होती है।[3] प्रो० ए० चक्रवर्ती महोदय ने गवेषणात्मक-रूप में व्रात्यों को जैनसिद्धांत का भक्त प्रकट किया है।[4] अतः उस समय की मुद्राओं पर 'जिन' शब्द का अङ्कित होना प्राकृत एवं सुसङ्गत है। और यह पुरातत्त्व आज से लगभग छै हज़ार वर्षों जितना प्राचीन है। अतः शिलालेखीय साक्षि 'जिन' शब्द को छै सात हज़ार वष से व्यवहृत सिद्ध करती है। चूंकि इस शब्द का भाव जिनमत के संस्थापक रागद्वेषादि

१. JBORS; Vol. XIII, p. 232 & 234 खारवेल सिरीन जीव देह सिरिका परिखता।

२. "The names and symbols on plates annexed would appear to disclose a connection between the old religious cults of Hindus and Jainas with those of the Indus people.... It may also be noted that the inscription on the Indus Seal No. 449 reads, according to my decipherment, "*Jineśvara* or *Jineśaḥ*".—Dr. Pran Nath: Indian Hist: Quarterly, VIII Supplement: p. 30.

३. Modern Review, August 1932.

४ Jaina Gazette Vol. XXI. No. 6. व भ० पारवनाथ की प्रस्तावना

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पर विजय करनेवाले महापुरुष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिये पहले निर्दिष्ट किये हुए जिनसिद्धांत का रूप भी उतना ही प्राचीन है। अतः जिनसिद्धान्त जो आज जीव-अजीव-तत्त्वरूप मिल रहा है, भगवान् महावीर से भी बहुत पहले का है।

उपर्युक्त बौद्ध उल्लेख से भी भ० महावीर के पहले से जिनसिद्धांत में जीव और लोक को अनादि मानने का प्रचार प्रमाणित है। म० बुद्ध के समय में भी जैनों की वैसी ही मान्यता थी—'दीघनिकाय' की 'सुमंगलाविलासिनी' टीका से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर जीव और लोक को नित्य मानते थे। जीव को अरूपी और संज्ञी अर्थात् उपयोगमय (conscious) बतलाते थे।[१] वह यह भी कहते थे कि यह जीव अपने मन, वचन, काय-द्वारा कृतकर्मों के कारण शरीर धारण करके जन्म-मरण के दुःख उठाता है। किन्तु ध्यान-द्वारा पूर्वकर्मों को नष्ट किया जा सकता है। कर्मों के नष्ट होने से दुःख का होना बन्द हो जाता है। दुःख के बन्द हो जाने से विषयवासना का क्षय हो जाता है, जिससे संसार में दुःख का अन्त हो जाता है।[२] अन्यत्र भी बौद्धग्रंथ में भ० महावीर की इस शिक्षा का उल्लेख निम्न शब्दों में मिलता है :—

"निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं—वे अशेष ज्ञान और दर्शन के ज्ञाता हैं। उन्होंने कहा है कि 'निर्ग्रन्थो! तुमने पूर्व (जन्म) में पाप-कर्म किये हैं, उनकी इस घोर दुश्चर-तपस्या से निर्जरा कर डालो। मन, वचन, काय की संवृति से (नये) पाप नहीं बंधते और तपस्या से पुराने पापों का व्यय हो जाता है। इस प्रकार नये पापों के रुक जाने से आयाति (आश्रव) रुक जाती है; आयाति रुक जाने से कर्मों का क्षय होता है; कर्मक्षय से दुःखक्षय होता है; दुःखक्षय से वेदना-क्षय और वेदना-क्षय से सर्व दुःखों की निर्जरा हो जाती है।"[३]

इस उल्लेख में कर्म का आना (आयाति) लिखा है; इस अपेक्षा कर्म एक ऐसा सूक्ष्म पदार्थ प्रकट होता है जो जीव की मन, वचन, काय की वासनामयी प्रवृत्ति के अनुसार बाहर से आकर जीवात्मा से बंध जाता है। वही तपश्चरण-द्वारा नष्ट भी किया जा सकता है। आज भी जिनसिद्धांत में कर्म को एक प्रकार का सूक्ष्म पुद्गल बतलाया है जो मन-वच-काय-योग की सकषाय अवस्था में उसकी ओर आकृष्ट होता और उसके साथ कालविशेष के लिये बन्ध को प्राप्त होता है।[४] चीन देश के एक "उपयकौसल्य-हृदय-शास्त्र"[५]—नामक प्राचीन बौद्धग्रंथ

१. Sumangalāvilāsinî (P. T. S.) p. 119.
२. Anguttara-Nikaya (P. T. S.), Vol. I p.p. 220-221.
३. मज्झिमनिकाय (P. T. S.) भा० १३ पृ० ९२-९३।
४. तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र अध्याय ६—१०
५. प्रो० टुक्की, वीर, वर्ष ४, पृ० ३५३-३५४

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

में जिनसिद्धांत में माने हुए कम की मूल प्रकृतियों का भी उल्लेख मिलता है[1] और उसमें 'जिनसिद्धांत'—निर्ग्रन्थ-मत में निम्न पदार्थ मान्य प्रकट किये गये हैं :—

(१) जीव, (२) अजीव, (३) पाप, (४) पुण्य, (५) आस्रव, (६) संवर, (७) बंध और (८) मोक्ष।

आजकल जैनों में उक्त आठ पदार्थ निर्जरा-तत्त्व-सहित 'नव-पदार्थ' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उक्त चीनी ग्रंथ में दृष्टि-दोष से निर्जरातत्त्व का उल्लेख होना छूट गया है। वैसे 'मज्झिम-निकाय' के पूर्वोल्लेख से 'निर्जरा' तत्त्व का होना प्रमाणित ही है। इस चीनी ग्रंथ में क्रोध-मान-माया-लोभरूप चार कषायों का भी उल्लेख है। इन कषायों के कारण ही जीव कर्मों को, जो एक प्रकार का सूक्ष्म अजीव पदार्थ है, अपने में आकृष्ट करता है। यह आकर्षण आस्रव-तत्त्व और बंधना 'बंध' तत्त्व है। 'संवर' कर्मों की आयाति का रोकना है और 'निर्जरा' तत्त्व उनका सर्वथा अभाव करता है। और कर्मों से 'मुक्त' होना 'मोक्ष' तत्त्व है। कर्म शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) रूप हैं। इस प्रकार जिनसिद्धांत का वर्तमान रूप अपने मूलस्वरूप के अनुकूल सिद्ध होता है।

पहले एक बौद्ध उल्लेख से यह बता दिया गया है कि कर्मों से निवृत्ति तपश्चरण और ध्यान-द्वारा होती है। वर्तमान जैनसिद्धान्त भी यही कहता है और वह मोक्ष के लिये साधन-भूत शुक्लध्यान बताता है। शुक्लध्यान के अविचार और अवितर्क—इन पहले दो पायों का उल्लेख बौद्धग्रन्थ 'संयुत्तनिकाय' में है[2]। वहाँ भ० महावीर को चित्त नामक व्यक्ति से यह पूछते बताया गया है कि क्या उसे विश्वास है कि श्रमण गौतम (बुद्ध) का ध्यान अवितर्क और अविचार श्रेणी का है और उनने वितर्क और विचार को नष्ट कर दिया है। दूसरे शब्दों में इसका भाव यही है कि क्या म० बुद्ध ध्यान-द्वारा पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि अविचार और अवितर्क श्रेणी का शुक्ल ध्यान बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान में होता है और उसके बाद शीघ्र ही वह जीव सर्वज्ञ हो जाता है।[3] म० बुद्ध का ज्ञान वस्तुतः इस कोटि का नहीं था, यह बात स्वयं बौद्धग्रन्थ 'मिलिन्दपण्ह' के निम्न कथन से स्पष्ट हैं; जो म० बुद्ध के पूर्णज्ञान के विषय में पूछे जाने पर बौद्धाचार्य ने कही है[4]:—

१ उक्त बौद्धग्रंथ में कर्म की मूल प्रकृतियां आठ न बतलाकर छः इस प्रकार बताई हैं :—
(१) दर्शनावरण (२) वेदनीय (३) मोहनीय (४) आयु (५) गोत्र और (६) नाम। इनमें ज्ञानावरणीय और अन्तराय कर्म प्रकृति का उल्लेख होने से उसी तरह रह गया है, जिस तरह उसमें 'निर्जरा' तत्त्व का उल्लेख छूट गया है।

२ संयुत्तनिकाय (P. T. S.) भा० ४, पृ० २८७

३ तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र अ० ६

४ मिलिन्दपण्ह (S. B. E. Vol. XXXV P. 154).

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

"वह ज्ञान की दृष्टि श्रमण गौतम के निकट हर समय नहीं रहती थी। भगवान् की सर्वज्ञता विचार करने पर अवलम्बित थी और जब वह विचार करते थे तो वह उस बात को जान लेते थे, जिसको वह जानना चाहते थे।"

इस पर प्रश्नकर्त्ता राजा मिलिन्द बौद्धाचार्य से कहते हैं कि :—

"इस दशा में जब कि विचार करने से बुद्ध किसी बात को जानते थे, तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकते!"

बौद्धाचार्य राजा के इस तर्क को एक हद तक मानते हुये कहते हैं :—

"यदि ऐसा ही है, सम्राट्! तो हमारे बुद्ध का ज्ञान अन्य बुद्धों के ज्ञान की अपेक्षा सूक्ष्मता में कम होगा और इसका निश्चय करना कठिन है।"

इस बौद्ध उल्लेख से यह भी स्पष्ट है कि उस समय भी प्रत्यक्ष सर्वदर्शी पूर्ण ज्ञान, जो अपने अधिकारी के पास हर समय रहता हो, सर्वज्ञता कहा जाता था। वह ज्ञान-नेत्र था जिससे एक सर्वज्ञ पुरुष सारे लोक का ज्ञान एक साथ रखता था। म० बुद्ध को ज्ञान इस श्रेणी का न होकर अवधिज्ञान था।[1] यही कारण है कि म० बुद्ध ने पूछे जाने पर भी इस विषय में कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया[2] और आत्मा लोक आदि के विषय में कोई निश्चित मत प्रकट नहीं किया,[3] यद्यपि सिद्धान्त में इन बातों का निश्चय करना परमावश्यक है। इसके विपरीत भ० महावीर को बौद्धग्रंथ पद-पद पर सर्वदर्शी और सर्वज्ञ प्रकट करते हैं।[4] वह अपने ज्ञान में सारे लोक को जानते-देखते थे, यह बात भी उस बौद्ध उल्लेख से स्पष्ट है जिसमें कहा है कि "निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र सर्व लोक को देखते हैं जो उनके ज्ञान से सीमित है।"[5] भगवान् के ज्ञान में लोक स्पष्ट दिखता था इस अपेक्षा उनके निकट लोक को सीमित बतलाया गया है। भगवान् का पूर्णज्ञान हर समय उनके साथ रहता था; यह बात भी बौद्ध उल्लेख से स्पष्ट है और ये उल्लेख ई० पूव चौथी शताब्दी के विश्वसनीय हैं।[6] 'मज्झिमनिकाय' में कहा गया है कि "हमारे चलते, ठहरत, सोते, जागते, समस्त अवस्थाओं में सदैव निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र का ज्ञान और दर्शन उपस्थित रहता था"[7] इन उल्लेखों से उस प्राचीनकाल में सर्वज्ञता का स्वरूप भी स्पष्ट है। वह विशेष पाण्डित्य न होकर वैसा ही पूर्णज्ञान था जैसा कि आज जैन सिद्धान्त में मान्य है। अत एव यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि जैनसिद्धान्त आज भी अपने प्राचीन रूप में मिल रहा है।

१ हमारी "भगवान् महावीर और म० बुद्ध" नामक पुस्तक (पृष्ठ ७३)

२ महापरिनिब्बाणसुत्त (S. B. E. Vol. XI) पृ० १४४ व संयुत्तनिकाय ११७८-७६

३ Diologues of the Buddha (S. B. B., Vol. II) P. 254.

४ "भ० महावीर और म० बुद्ध" पृष्ठ ८८-६०

५ अंगुत्तरनिकाय भा० ४, पृष्ठ १८० V. 1 bid. P. 188.

६ Ibid. P. 188. ७ मज्झिमनिकाय (P. T. S.) भा० १ पृष्ठ ६२-६३

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन हिन्दी-वाङ्मय

(लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

अब यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि हिन्दी भाषा की उत्पत्ति अपभ्रंश प्राकृत से ही हुई है। केवल हिंदी की ही नहीं; बल्कि उत्तर भारत की सभी भाषाओं एवं मराठी, गुजराती आदि की भी यही जन्मदात्री है। इससे आसानी से जाना जा सकता है कि सुप्राचीन काल में यह अपभ्रंश भाषा अपने अनेक रूप में देशव्यापिनी बनी रही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सर्वत्र देशभाषा के रूप में ही उस समय व्यवहृत होती रही। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के इतिहास में यह अपभ्रंश भाषा अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यह प्राचीन संस्कृतादि आर्यभाषाओं एवं देश भाषाओं के बीच की एक समुज्ज्वल लड़ी है। इसकी अनुपलब्धि से यहाँ के भाषाशास्त्र में भाषा-तत्त्वज्ञ विद्वान् एक बहुत बड़ी त्रुटि का अनिवार्य अनुभव करते आ रहे थे। इसी के फलस्वरूप १२वीं-१३वीं शताब्दी से पूर्व की हिंदी आदि भाषाओं का इतिहास ही लुप्तप्राय था। अपभ्रंश-साहित्य की प्राप्ति से यह त्रुटि दूर हो गई और यह साफ होता जा रहा है कि वर्तमान हिंदी, मराठी, गुजराती, और बंगला आदि भाषायें एक जमाने में इसी अपभ्रंश भाषा के रूप में वर्तमान थीं। यह यहाँ विचारणीय विषय है कि इस अभ्रंश भाषा के साहित्य को सुदीर्घकाल से सुरक्षित रखने एवं प्रकाश में लाने का अधिक श्रेय मध्यप्रांत को ही दिया जा सकता है। इस विषय को प्रमाणित करने के लिये मैं यहाँ 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' भाग ८, अंक २ में प्रकाशित स्वर्गीय भारतीय इतिहास के अनन्य मर्मज्ञ श्रीकाशीप्रसाद जयसवाल विद्यामहोदधि, पटना के 'पुरानी हिंदी का जन्मकाल' शीर्षक लेख की कुछ पंक्तियों को ज्यों की त्यों उद्धृत किये देता हूं :—

"सन्तोष का फल मीठा होता है। यह मीठा फल जाबालिपुर से आया। इसे मैं अकेला न खाकर समस्त हिन्दी-भाषियों को भेंट करता हूं। मैं परोसने मात्र का अधिकारी हूं। इसके चुननेवाले मेरे और हिन्दी-भाषियों के श्रद्धाभाजन 'नागरीप्रचारिणी सभा' के सभापति, लब्ध-कीर्त्ति, पण्डित-प्रवर राय हीरालाल बहादुर हैं। उन्होंने जाज्वल्य मध्य प्रदेशके पवित्र जैन-मन्दिर-वृक्षों से यह सत्य फल सङ्कलित किया है। पण्डितवर राय बहादुर ने मध्य प्रदेश की सरकार के लिये एक तालिका संस्कृत और प्राकृत पोथियों की, जो उस देशमें पायी गयी हैं (Catalogue of Sanskrit and Prakrit manuscripts in the Central Provinces and Berar Government Press Nagpur 1926) बनाई है। इस अनुसन्धान

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तालिका में ८१८५ हस्तलिखित पुस्तकों की चर्चा है जिनमें से नं० ६९२२ से ८१८५ तक प्राकृत ग्रन्थों की इतिवृत्ति है। इनमें १४१५ सम्वत् तक की हाथ की लिखी किताबें हैं। इनमें बेरार जिला अकोला के कारंजा शुभस्थानस्थ श्रीसेनगणीय तथा बलात्कारगणीय और काष्ठा-संघीय जैन भाण्डारों में सुरक्षित पुराने आचार्यों के ग्रन्थ हैं, जो हिन्दी भाषा का पूर्व इति-हास लगातार शताब्दियों को हिन्दो-भाषा-जीवनी-स्वरूप, अपने अङ्क में छिपाये हुए थे। मातृभाषा के इस इतिहास को, फल की जगह, अब रत्न से तुलना करनी चाहिये, क्योंकि रत्न के समान यह चिरस्थायी और प्यारा, हिन्दी भाषियों का उत्तराधिकार और बपौती धन भविष्य में बहुत दिनों तक बना रहेगा। यह स्वनामधन्य ख्यातनामा राय हीरालाल बहादुर के प्रयास और उनकी सूक्ष्मदर्शिता से हम लोगों को प्राप्त हुआ है। इस इतिहास से विदित होता है कि हिन्दी भाषा प्राकृत से अलग हो विक्रमीय दसवीं शताब्दी के पूर्व ही प्रादुर्भूत हो चुकी थी। इस काव्यगत प्राचीन भाषा के लक्षण ये हैं प्राकृत के छन्द छोड़ हिन्दी के छन्दों का प्रयोग, अन्त्यानुप्रास का, जो प्राकृत काव्य में कभी नहीं बरता गया, उदय और अवश्योपयोग; शब्द-कलाप में देशी शब्दों का प्राकृत शब्दों के साथ बाहुल्य (देशी शब्द वे हैं जिनकी निःसृति संस्कृत-प्राकृत से नहीं है); फिर सब के ऊपर यह कि व्याकरण प्राकृत का एकदम दूर होकर, हिन्दी व्याकरण का शासन। इन बातों को देखते हुए हमें इस भाषा को पुरानी हिन्दी कहते हुए कोई सन्देह या हिचकिचाहट नहीं होती है।"

उल्लिखित इन पंक्तियों से विज्ञ भाषातत्त्वविद् अपभ्रंश भाषा का महत्त्व आसानी से परख लेंगे। यशोधर-चरित, नागकुमार-चरित, करकण्डु-चरित, सावयधम्म दोहा और पाहुड दोहा आदि अपभ्रंश भाषा के कई जैन ग्रंथ अब कारंजा से प्रकाशित हो भी चुके हैं। इसके संपादन, प्रकाशन आदि का सारा श्रेय 'भास्कर' के अन्यतम सम्पादक प्रो० हीरालाल जी एम०ए०, एल०एल०बी०, अमरावती को है। हर्ष की बात है कि 'महापण्डित' त्रिपिटकाचार्य श्रीराहुल सांकृतायन ने भी इधर बौद्ध साहित्य में अपभ्रंश के कई छोटे-मोटे ग्रंथों का पता लगाया है। वे इन्हें नेपाल और तिब्बत देशों से उपलब्ध हुए हैं। ब्राह्मण-साहित्य में इस भाषा का आदर बहुत कम प्राप्त है; पर वहाँ भी इस भाषा के ग्रन्थों का सर्वथा अभाव नहीं है।

यद्यपि इस प्रकार जैन, बौद्ध एवं हिंदू सभी धर्मों के लेखकों और कवियों ने इस भाषा को अपनाया है। फिर भी इस का विशेष आदर एवं प्रचार जैन साहित्य में ही हुआ है। अपभ्रंश से प्रादुर्भूत जैन हिन्दी साहित्य विशाल ही नहीं बल्कि अधिक महत्त्वपूर्ण है। भाषा-विज्ञान को दृष्टि से इसमें कुछ ऐसी ही विशेषतायें हैं, जो अन्य साहित्य में शायद ही पाई जाती हों। हिन्दी की उत्पत्ति और क्रमिक विकाश की ज्ञान-प्राप्ति करने के लिये हिन्दी

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैनसाहित्य का अध्ययन एवं मनन करना केवल उपयोगी ही नहीं किन्तु परमावश्यक भी है। पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी जैनेतर विद्वानों की दृष्टि इधर बहुत ही कम गई है। यहीं तक नहीं बल्कि माधुरी, सरस्वती, विशाल भारत आदि उच्च कोटि के मासिक पत्रों में जहाँ कथा, कहानी आदि की समालोचना में कालम के कालम रंगे रहते हैं वहाँ जैन ग्रन्थों की समालोचना में—छपाई-सफाई, इतनी क़ीमत एवं जैनियों के काम की चीज लिख कर ही समालोचकवृन्द अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर बैठते हैं। उन्हें आमूलाग्र पढ़कर उनकी तह तक पहुंचना एवं उनके दोष-गुणों का विशद विवेचन कर साहित्य के नाते उन्हें सबों के लिये उपयोगी या अनुपयोगी बताना तो वे जानते ही नहीं। मुझे तो आशा है कि यह अपनी चिरसञ्चित संकीर्णता, उदारचेता स्वर्गीय जायसवाल जी की उल्लिखित जैन अपभ्रंश भाषा-विषयक उदार विचार पढ़कर अब से दूर करने की लोग चेष्टा करेंगे। क्योंकि कोई साहित्य किसी सम्प्रदाय-विशेष की पैत्रिक सम्पत्ति नहीं है। वह तो विश्वमात्र का सर्वस्व है। जबतक सभी साहित्य का गम्भीर अध्ययन नहीं किया जाता तबतक किसी साहित्यका पर्याप्त ज्ञान नहीं हो सकता—वह सदा अधूरा हो रहेगा। समालोचक तो साहित्य-न्यायमंच का एक न्यायाधीश है। उसे सदा पक्षपात एवं साम्प्रदायकिता से दूर रह कर निष्पक्षपात दृष्टि से ही समालोच्य विषय का फैसला करना उचित है। जब मैं दक्षिण-प्रांतीय साहित्यिकों की ओर दृष्टि देता हूं तो मेरा हृदय कृतज्ञता से उमड़ पड़ता है। क्योंकि कन्नड और तमिलु जैन साहित्य को अधिक प्रचार और प्रकाश में लाने का श्रेय इन्हीं विद्वानों को है। बल्कि जैन समाज इन अजैन कन्नड और तमिलु साहित्यिकों का चिर ऋणी रहेगा। अस्तु, अब मैं अपने प्रकृत प्रस्तुत विषय पर आता हूं।

यहाँ पर मैं पाठकों का ध्यान एक आवश्यक विषय की ओर आकृष्ट कर देना चाहता हूं। वह यह है कि जिस तरह संस्कृत एवं प्राकृत जैन साहित्य ने भारतवर्ष के इतिहास-निर्माण में पर्याप्त सहायता की है उसी तरह हिन्दी जैन साहित्य भी अपने समय के इतिहास-निर्माण में कम सहायक नहीं होगा। जैन विद्वानों का लक्ष्य सदा से ही इतिहास की ओर अधिक रहा है। प्रत्येक जैन लेखक अपनी रचनाके अन्त में कहीं कहीं पूर्व में भी अपने समय के शासक—राजाओं का एवं गुरु-परम्परा का कुछ न कुछ उल्लेख अवश्य करता आ रहा है। यहां तक कि जिन लोगोंने ग्रन्थों को नकलें कराई हैं और उनका दान किया है, उनका भी कुछ न कुछ परिचय—इतिहास उन ग्रन्थों के अन्त में लिखा मिलता है। कहीं कहीं तो हस्त लिखित ग्रन्थों में एतद्विषयक बड़ी लम्बी-लम्बी प्रशस्तियां देखने में आती हैं। 'भास्कर' भाग २, पृष्ठ १०३ में 'इतिहास का जैन ग्रन्थों के मंगलाचरण और प्रशस्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हो चुका है। उस लेख में अजैन विद्वान् मित्रवर पं० हरनाथ द्विवेदी ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

एक बात और है। मुझे जहांतक मालूम है कि आज तक के हिन्दी साहित्य के अन्वेषण में पद्यग्रन्थों को ही प्रधानता दी गयी है। गद्य-ग्रन्थ बहुत ही कम हैं। किन्तु हिन्दी जैन-साहित्य को ही यह गौरव प्राप्त है कि इसमें गद्यग्रन्थ भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं। ये ग्रन्थ हिन्दी गद्य-भाषा के विकाश-क्रम समझने के लिये यथेष्ट साधनभूत हैं। सोलहवीं शताब्दी के पूर्व से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के हिन्दी गद्य-ग्रन्थ जैन साहित्य में प्राप्त होते हैं। पं० हेमराज-रचित पञ्चास्तिकाय एवं प्रवचन-सारकी वचनिकायें, पाण्डे रायमल्ल जी-कृत समयसार की बालबोध टीका और पर्वतधर्मार्थी की बनाई हुई समाधितन्त्र की वचनिका आदि ही हिन्दी गद्यसाहित्य के समुज्ज्वल निदर्शन हैं। खास कर पं० बनारसीदास के अर्द्ध-कथानक केवल हिन्दी साहित्य में ही नहीं; बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में एक सर्वप्रथम आत्मकथा यानी जीवन-चरित है।

उपलब्ध हिन्दी जैन साहित्य स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर। श्वेताम्बर जैन साहित्य में कथाग्रन्थ ही अधिक हैं। सैद्धान्तिक ग्रन्थ बहुत ही कम। पर दिगम्बर साहित्य में जितने कथा-ग्रन्थ हैं, प्रायः उतने ही सैद्धान्तिक ग्रन्थ भी हैं। सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोम्मटसार, प्रवचनसार, समयसार, पञ्चास्तिकाय जैसे महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर सैद्धान्तिक ग्रन्थों की भी वचनिकायें (हिन्दी टीकायें) दिगम्बर साहित्य में मौजूद हैं। इतना ही नहीं परीक्षामुख, आप्त-मीमांसा, न्याय-दीपिका आदि न्याय-ग्रन्थों के भी हिन्दी अनुवाद उपलब्ध हैं। बल्कि किसी-किसी ग्रन्थ के दो-दो, चार-चार भी अनुवाद कर डाले गये हैं। दिगम्बरियों के संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य के प्रायः प्रत्येक विषय पर हिन्दी में कुछ न कुछ अवश्य लिखा गया है। इसी लिये यदि कोई चाहे तो वह केवल हिन्दी भाषा के द्वारा ही दिगम्बर जैन धर्म का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी का ज्वलन्त उदाहरण है कि गोम्मटसार आदि की गम्भीर चर्चा करनेवाले सैकड़ो ऐसे जैनी हैं जिन्हें संस्कृत का कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसी से दिगम्बर जैन समाज में अपने धर्म की जानकारी रखनेवाले व्यक्ति स्थान-स्थान पर मिलते हैं। पर यह बात श्वेताम्बर समाज में नहीं है। दिगम्बर समाज में देश भाषाओं में सैद्धान्तिक या अन्यविषयक उच्च संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंका अनुवाद एवं प्रचार केवल हिन्दी में ही नहीं बल्कि कन्नड, तमिलु आदि अन्यान्य प्रान्तीय भाषाओं में भी प्रचुर परिमाण में मौजूद हैं। क्योंकि दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता इसे जैन धर्म-प्रचार का एक अन्यतम प्रधान साधन समझते थे। वास्तव में यह है भी मान हुई बात। यहां पर और एक बात का उल्लेख कर देना परमावश्यक है वह यह है कि हिन्दी जैन ग्रन्थों का प्रचार केवल हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में ही नहीं; बल्कि गुजरात और बहुदूरवर्ती दक्षिण प्रान्त में भी है। दाक्षिणात्य जैनी भी गोम्मटसार आदि कठिन से कठिन सिद्धान्त ग्रन्थों के तत्वों को हिन्दी टीका-द्वारा दीर्घ काल से समझने की चेष्टा करते

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आ रहे हैं तथा इसमें उन्हें सफलता भी मिली है। इसलिये यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि दक्षिण में हिन्दी प्रचार का सूत्रपात पहले पहल हिन्दी जैन साहित्य ने ही किया है। कन्नड और तमिलु साहित्य के समान हिन्दी में भी विपुल मात्रा में गृहस्थों के द्वारा ही ग्रन्थ रचे गये हैं। किन्तु श्वेताम्बर-समाज में इसके विपरीत है। ज्ञात होता है कि इस समाज के गृहस्थों (श्रावक) ने ग्रन्थ-रचना का अपने को अधिकारी ही नहीं समझा। यह बड़े हर्ष की बात है कि दिगम्बर समाज में इधर कुछ शताब्दियों से जब साधु-संघ का अभाव हुआ तब इस सम्प्रदाय के श्रावकों ने ही गुरुओं का यह गुरुतर भार अपने कन्धों पर लेकर अपने धर्म को बचाया।

हिन्दी जैन साहित्य चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) सैद्धान्तिक ग्रन्थ (२) पुराण एवं चरित्र आदि (३) पूजा-पाठ (४) भजन, पद तथा विनती आदि। यहाँ यह उल्लेखनीय बात है कि हिन्दी जैन साहित्य में पूजा-पाठ की पुस्तकें पर्याप्त परिमाण में प्राप्त होती हैं। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि दिगम्बर जैन समाज में कुछ शताब्दियों तक पूजा पाठकी प्रधानता रही। यह भक्ति का एक अङ्ग है अवश्य, फिर भी 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' इस नीत्यनुसार कुछ खटकना आवश्यक है। इसका प्रधान कारण भक्ति-काल (१३७५-१७००) ही मालूम होता है। इस विषय में मैं अपनी ओर से कुछ नहीं लिख कर 'हिन्दी शब्द-सागर' (संख्या ४३ ४५, पृष्ठ ७२) का प्रस्तावना गत संपादकीय वक्तव्य की कुछ पंक्तियां ही यहां उद्धृत किये देता हूं। "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, अभिमान और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देवमन्दिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियों और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गाही सकते थे और न विना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान् की भक्ति और करुणा को ध्यान में लाने के अतिरिक्त सान्त्वना का दूसरा मार्ग ही क्या था? काल के प्रतिनिधि कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिये भक्ति का एक नया मैदान खोलने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गये। प्रेम-स्वरूप ईश्वर को सामने ला कर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्यता के एक सामान्य रूप में दिखाया और भेद-भाव के दृश्यों को हटा कर पीछे कर दिया।

भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने का पूरा स्थान मिला।"

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

देश की ऐसी परिस्थिति में ईश्वर को कर्ताहर्ता नहीं माननेवाले जैन कवि भी यदि इस भक्ति प्रवाह में बह चले, इस में आश्चर्य ही क्या है ?

हिंदी जैनसाहित्य की विचार-धारा शांतरस-प्रधान है। इस के प्रत्येक ग्रन्थ में शांत-सुधा का ही प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। शृङ्गारादि-विषयक रचनायें इस साहित्य में नहीं के बराबर हैं। निवृत्ति-प्रधान जैन धर्म के साहित्य में ऐसा होना कोई अनोखी बात नहीं है; फिर भी संस्कृत एवं प्राकृत आदि साहित्य में जैनियों के द्वारा शृङ्गारादि-विषयक ग्रन्थ अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। मालूम होता है कि उस युग के जैनविद्वानों को इस बात का परहेज नहीं था। बल्कि जिनसेन-सदृश विषय-विरक्त बड़े बड़े आचार्यों ने भी शृङ्गाररस से ओत-प्रोत काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। इसका प्रधान हेतु यही ज्ञात होता है कि संस्कृत, प्राकृत आदि भाषा-कवियों का लक्ष्य धर्म एवं साहित्य दोनों था। पर हिंदी-कवियों का लक्ष्य जैनधर्म का प्रचार एवं रक्षा रहा। *फिर भी हिन्दी-कवियों को उससे नफरत नहीं थी, यह बात उन्हीं की रचनाओं से स्पष्ट सिद्ध होती है।* इसलिये उन की कृतियाँ काव्योचित गुणों से रिक्त नहीं कही जा सकतीं। जैन काव्य-साहित्य भी जैनेतर काव्यसाहित्यों से कम नहीं है यह बात साहित्य-संसार में दिखाने के लिये अपनी धर्म-प्रभावना के साथ-साथ उल्लिखित जैनाचार्यों को शृङ्गारादि रसमयी रचनाओं की भी सृष्टि करनी पड़ी। यह है भी ठीक— क्योंकि तात्कालिक अन्यान्य प्रौढ़ काव्यों की प्रतियोगिता के अखाड़े में ये भिड़ने से बाज कैसे आते ? फिर भी वे अपने निवृत्तिमार्ग के ध्येय से विचलित नहीं हुए हैं। इसका ज्वलन्त प्रमाण यही है कि इन्होंने अपने ग्रन्थों के नायक तीर्थङ्कर आदि महापुरुषों को ही चुनकर नश्वर सांसारिक विषयों को सुखाभास सिद्ध करते हुए अन्त में उन से अभ्युदय-निःश्रेयस आदि की प्राप्ति करायी है। वास्तव में प्रायः भुक्तभोगी ही सांसारिक निस्सारता का प्रकृत अनुभव कर दृढ़ विरक्त दृग्गोचर होता भी है।

हिंदी जैनकवियों में बनारसी दास सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। रूपचंद, भूधरदास, भगवती-दास आदि भी उच्चकोटि के कवि कहे जा सकते हैं। दीपचंद, द्यानतराय, माल, यशोविजय, वृन्दावन, बुलाकीदास, दौलतराम, बुधजन आदि द्वितीय श्रेणी के कवि हैं। उच्च श्रेणी के कवियों ने प्रायः सैद्धांतिक ग्रंथों की ही रचना की है। इसी से इनकी रचनाओं से साधारण जनता विशेष लाभ नहीं उठा सकती है। भूधरदास जी का 'पार्श्वपुराण' यह एक उच्चकोटि का चरित्र ग्रन्थ है अवश्य ; पर गुणस्थान, कर्म, नरक, स्वर्ग आदि सैद्धांतिक तथा सांकेतिक विषयों के व्यवहरण से यह भी एक सिद्धांत ग्रन्थ सा बन गया है।

गद्यलेखक एवं टीकाकारों में टोडरमल जी ही सर्व-प्रधान हैं। जयचंद, हेमराज, आत्माराम आदि अच्छे लेखकों में हैं। सदासुख, भागचंद, दौलतराम, जगजीवन आदि मध्यम श्रेणी के गद्यरचयिता हैं। श्वेतांबरों में आत्माराम जी को छोड़ कर गण्य-मान्य गद्यलेखक नहीं नजर आते हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अस्तु, अब हिंदी के प्रारंभिक काल पर भी एक नजर दौड़ाना आवश्यक है। इतिहास महोदधि स्वर्गीय श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित अपने 'पुरानी हिंदी का जन्मकाल' शीर्षक लेख में हिन्दी का जन्मकाल लगभग १०वीं शताब्दी के पूर्व ६ठी—७वीं शताब्दी बतलाया है। परंतु हिंदी के सुयोग्य लेखक एवं सच्चे सेवक, लब्ध-प्रतिष्ठ बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने अपनी 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक मौलिक कृति में तथा पं० रामचंद्रजी शुक्ल ने अपनी 'हिंन्दी साहित्य का इतिहास' इस बहुमूल्य रचना में पुरानी हिंदी का जन्मकाल यथाकथ्चित् १२वीं शताब्दी का मध्यभाग ठहराया है। भिन्न-भिन्न दो दृष्टिकोणों से उक्त ये दोनों समय विभाग मेरी स्थूल दृष्टि से ठीक जँचते हैं। क्योंकि हिन्दी का जन्मकाल ६ ठी या ७ वीं शताब्दी भले ही हो किन्तु हिन्दी ग्रन्थ १२ वीं १३ वीं शताब्दी से ही लगातार मिलते हैं। ऐसी अवस्था में यह मानना अनुचित नहीं जचता है कि पुरानी हिन्दी का जन्म तो १०वीं शताब्दी से पूर्व ही हुआ था; पर इसने १२वीं शताब्दी के उपरांत ही पूर्णरूपेण हिन्दी का रूप धारण किया। विवक्षित किसी एक भाषा को अपना पूर्वरूप त्याग कर नये सांचे में ढलने के लिये इतना समय का लगना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

अब मैं इस लेख को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता हूं, किन्तु अन्त में जैन समाज को लक्ष्य कर के दो शब्द कह देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं। वह यह है कि कम से कम अब अपना चिराभ्यस्त साहित्यिक प्रमाद का परित्याग कर जैनियों को साहित्यिक क्षेत्र में उतर आना चाहिये। जब तक हम स्वयं कमर कस कर अपने साहित्योद्धार के लिये सन्नद्ध नहीं होते तबतक दूसरों के अवलम्ब की आशा करते रहने से कुछ भी नहीं होने को है। हमारे जैन साहित्य में सभी चीजें भरी पड़ी हैं—केवल उन्हें टटोल कर प्रकाश में लाने की ज़रूरत है। अब हम लोगोंको वर्त्तमान समय में जो कार्य स्पष्टतया अनुपयोगी सिद्ध हो रहे हैं, ऐसे कार्यों से थोड़ा हाथ खींच कर इस जैन साहित्योद्धार जैसे पवित्रकार्य में मुक्त हस्त से धन-व्यय करने की सख्त ज़रूरत है। इस अमूल्य साहित्य-प्रकाशन से ही जैन समाज पूर्ववत् अपना सिर ऊंचा रखने में सक्षम हो सकता है। अब वह जमाना नहीं रह गया जब कि मंदिरों और प्रतिमाओं की विरलता को महसूस कर आचार्य-गण इसकी परमावश्यकता बतलाते थे। तब की बात दूसरी थी। जैनियों की संख्या अपार थी एवं मंदिर मुष्टिमेय थे। अब वह बात नहीं रही। जैनियों की संख्या अप्रत्याशित ह्रास को पहुंच गयी है। मंदिरों और प्रतिमाओं का बाहुल्य अब उन्हें सँभाले नहीं सँभलता। प्रतिमाओं की चोरी आदि यत्र-तत्र उत्तरोत्तर बढ़ रही है। ऐसी दशा में जैन-साहित्य और इतिहास की कमी का जो लांछन जैनेतर विद्वान् जैनियों पर लगा रहे हैं इसके प्रतिकार के लिये सभी जैन विद्वानों को संगठित होकर कुछ काल तक साहित्योद्धार को अपना मुख्य ध्येय बना लेना चाहिये। क्या मेरी इन पंक्तियों पर धनी-मानी जैनी ध्यान देंगे?

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दिल्ली के सुलतान और कर्नाटक के जैनगुरु

(ले०—श्रीयुत् डा० भास्कर आनन्द सालत्तूरु, एम०ए०, पी०एच०डी०)

कुछ वर्ष हुए जब श्रीलुई राइस साहब ने एक शिलालेख ढूंढ़ा था। परन्तु तब से उस शिलालेख की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। खूबी यह है कि उस शिलालेख से दिल्ली के सुलतानों और दक्षिण के जैनगुरुओं के मध्य-स्थित सद्भाव का पता चलता है। वह शिलालेख मैसूर रियासत के अन्तर्गत नगर तालुक, हुम्बुच होबली के हुम्बुच नामक स्थान पर अवस्थित 'पद्मावती-बस्ति' के परकोटे में मिला था। जैन धार्मिक दृष्टि के अतिरिक्त उस शिलालेख से अनेक तत्कालीन राजाओं और जैनगुरुओं का परिचय मिलता है। इसी शिलालेख में दो जैन गुरुओं के विषय में ऐसे उल्लेख हैं जिनसे उनका सम्बन्ध दिल्ली के सुलतानों से प्रकट होता है और उन सुलतानों की सहृदयता विदित होती है।

शिलालेख में अनेक जैनगुरुओं की परम्परा और उनका राजदरबारों में सम्मानित होना अङ्कित है, परंतु उससे हमें कुछ सरोकार नहीं है। हमें तो उन दो प्रसिद्ध गुरुओं से सरोकार है जिनके नाम शिलालेख में क्रमशः सिंहकीर्ति और विशालकीर्ति लिखे हैं। सिंहकीर्ति के विषय में शिलालेख में लिखा है कि "अश्वपति के समय में प्रशंसा-प्राप्त, महान् नैयायिक, जिन्होंने दिल्ली के शासक······मूद सुरित्राण के दरबार में, जिनके अधीन बंगाल्य देश था, बौद्ध एवं अन्यवादियों को सहज परास्त किया था, वह भट्टारक सिंहकीर्ति मुनिराट्, ······विद्या के एक ही गुरु थे।" ("बाभाति अश्वपतेर्द्दिने ततनयो बंगाल्य-देशावृतश्रीमद् दिल्लीपुरे······मूदसुरित्राणस्य माराकृतेः निर्जित्याशु सभावनम् जिनगुरुर् बौद्धादि-वादि-वृजं श्रीभट्टारक-सिंहकीर्ति मुनि रा······द्यै क-विदां-गुरुः")।

उपर्युक्त लेखांश में दिल्ली के सुलतानका नाम मूदसुरित्राण लिखा है और उन्हें दिल्ली का शासक तथा उनके राज्य में बंगाल्य (बंगाल देश) को सम्मिलित बताया है। उनके दरबार में जैन और बौद्ध दोनों वादिओं के वाद हुए थे।

उसी शिलालेख में दूसरा पैरा इस प्रकार प्रारम्भ होता है —

"विशालकीर्ति, एक महान् वक्ता, परमागम के वेत्ता, भट्टारक, बलात्कारगण के मुख्य नायक, एक महान् तपस्वी; सिकन्दर सुरित्राण से जिन्होंने सम्मान पाया, महान् वादियों को परास्त करने से जिनकी कीर्त्ति वृद्धि को प्राप्त हुई, वह लोक के अलङ्कार थे।" ("सिकन्दर सुरित्राणप्राप्तसत्कारवैभवः–महावाद—जयोद्भूतयशोभूषितविष्टपः")

Ac. Gunratnasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust

विशालकीर्ति की प्रशंसा एक अन्य हिन्दू नृपति के राजदरबार में प्रतिष्ठित हुई थी। उस राजा के नामोल्लेख से दिल्ली के सुलतानों और उनके समकालीन जैनगुरुओं का समय निश्चित करने में सुविधा प्राप्त है। उक्त शिलालेख में आगे उल्लेख है कि "विद्यानगर के शासक विरूपाक्षराय की राजसभा में वादियों को परास्त करके उन्होंने अपने ज्ञानबल से एक 'जयपत्र' प्राप्त किया, जो विद्वानों और राजाओं द्वारा साक्षात् सरस्वती देवी का ही शासन समझा जाता था। देवप्पदंडनाथ के नगर अरग में उन्होंने महान जैनधर्म को प्रतिपाला और ब्राह्मणों से सत्कार पाया।"[१]

अतः विशालकीर्ति ने दो महान् शासकों की राजसभाओं में प्रसिद्धि प्राप्त की थी, अर्थात् विद्यानगर (विजयनगर) के विरूपाक्ष और सिकन्दर सुलतान के दरबारों में। इनके अतिरिक्त एक प्रांतीय शासक देवप्प दंडनाथ के दरबार में भी वह प्रसिद्ध हुए थे।

देवप्प दंडनाथ का कुछ परिचय शिलालेखों से चलता है। दंडनाथ रायप्प का पुत्र बोम्मण नामका था और उसका पुत्र श्रीगिरिनाथ विजयनगर का वायसराय (दंडनायक) था। इसी श्रीगिरिनाथ का पुत्र देवप्प दंडनाथ था। श्रीगिरिनाथ ने अरग (अष्टादश कम्पण) प्रांत का शासन सन् १४२१ से लगभग सन् १४५० तक किया था।[२] तीर्थहल्लि तालुक से उपलब्ध हुए पुत्तिगे मठ के ताम्रपत्र में देवप्प दंडनाथ का सीधा परिचय है। यह ताम्रपत्र सन् १४६३ का है। इस दानपत्र में विजयनगर के राजा मल्लिकार्जुन (इम्मडि देव राय) ने सरविल्लिगे नामक गाँव का दान, उसका नया नाम गजबेटे देवरायपुर रखकर, श्रीगिरिनाथ के ज्येष्ठपुत्र देवप्प दंडनाथ को दिया था, जो महान् अरगराज्य के रक्षक थे और जिन्होंने राजा को चिरंजीवी होने के लिये आशीर्वाद दिया। श्रीगिरिनाथ के पुत्र दंडनाथ देवप्प ने राजा की आज्ञा से ब्राह्मणों को बाँट दिया। इस राजकीय दानपत्र से स्पष्ट है कि सन् १४६३ में देवप्प दंडनाथ अरगराज्य पर नृप मल्लिकार्जुन के अधीन शासन करते थे।[३]

विजयनगर के दूसरे सम्राट् विरूपाक्ष के राज्यकाल में भी वह अरगराज्य के शासक रहे थे, यह बात तीर्थहल्लि तालुक के नएटूरुमजरे नाबल ? ग्राम से प्राप्त शिलालेख (सन् १४६८) से स्पष्ट है। इस लेख में यह कहा गया है कि जब विरूपाक्ष महाराय विद्यानगर में थे—उन्हीं नृप की आज्ञा से महादण्डनायक देवप्प ओडेयर अरग राज्य का रक्षण कर रहे थे।[४] इससे स्पष्ट है कि देवप्प दण्डनाथ अरग के वायसराय सन् १४६३ से क़रीब १४६८ ई० तक थे।[५]

१ इपीग्रेफिया कर्नाटिका, भा० ८८ नं० ४६, पृष्ठ ३७७-३७८
२ सोशियल एण्ड पोलीटिकल लाइफ इन दी विजयनगर इम्पायर, भा० १ पृ० ३०१
३ इपी० कर्नाटिका भा० ८ पृ० २०६
४ इपीग्रेफिया कर्नाटिका (II); १४४, पृ० १६२
५ सालेतूर, पूर्वोल्लिखित पुस्तक, पृ० ३०२

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

यह ठीक से नहीं कहा जा सकता कि किस समय श्रीविशालकीर्ति ने जैनधर्म का प्रतिपादन देवप्प दंडनाथ के नगर अरग में किया था; किन्तु इस बात से कि इन्हीं महादंड-नायक का उल्लेख विजयनगर सम्राट् विरूपाक्ष के उपरांत हुआ है यह अनुमानगम्य होता है कि विशालकीर्ति की वादविजय सन् १४६८ ई० में हुई थी जब कि देवप्प अरगराज्य का शासन सम्राट् विरूपाक्ष राय के अधीन कर रहे थे। जो भी हो, यह निश्चित है कि जब देवप्प दंडनाथ का राज्यकाल सन् १४६३ से १४६८ ई० का मध्यवर्ती काल है तब श्रीविशालकीर्ति जी का समय भी वही होना चाहिये।

इस व्याख्या का समर्थन शिलालेख में उल्लिखित हुए विजयनगर-नृप के व्यक्तित्व का पता लगाने से भी होता है। इसमें संशय नहीं कि पद्मावती-बस्ति के शासन में जिन विरूपाक्ष नृप का उल्लेख है वह मल्लिकार्जुन राय के भाई और देवराय द्वितीय के पुत्र विरूपाक्ष राय थे। उन्होंने सन् १४६७ ई० से सन् १४७८ ई० तक राज्य किया था।[1] इस अपेक्षा श्रीविशाल कीर्तिजी का समय भी इसी समय के मध्य होना चाहिये।

मैसूरु राज्य के अन्तर्गत नागर होब्लि के मललि नामक स्थान पर स्थित पार्श्वनाथ-बस्ति से उपलब्ध शासनलेख से भी जैनाचार्य विशालकीर्ति का अन्तिम समय निर्णीत होता है। यह लेख "श्रीजयाभ्युदय शक वरिष १३९६ नेय विजय संवत्सरद कार्तिक शुद्ध ५ बुद्धवार" का लिखा हुआ है, जो २६ अक्तूबर (मंगलवार) सन् १४७३ ई० होता है।[2] इस लेख में वर्णन है कि वादीन्द्र विशालकीर्ति भट्टारक स्वामी के उपदेश से महाप्रभु मन्डुवण्ण नायक के पुत्र भैरण्ण नायक ने मलेयखेड़ नेमिनाथ के हेतु कतिपय भूमि का दान किया।[3] इस लेख में भी विशालकीर्ति जी का विरुद 'वादीन्द्र' पद्मावती शासनलेख के अनुरूप है। आगे, पार्श्वनाथ-बस्ति शासनलेख भी विरूपाक्ष राय के समय का है; क्योंकि इस लेख का पूर्व भाग शक वर्ष १३९५ नेय नन्दन संवत्सरद वैशाख शुद्ध १३ अर्थात् २१ अप्रेल (मंगलबार) सन् १४७२ ई० का लिखा हुआ है।[4] इसमें लिखा हुआ है कि दानमूलसीमे के अन्तर्गत इदुवणे नामक स्थान पर भैरण्ण नायक ने पार्श्वनाथ-बस्ति बनवा कर उसकी प्रतिष्ठा कराई थी। उस समय वह होरुगुप्प हेव्वयल्नाड के शासक नियुक्त थे।[5] अतः पार्श्वनाथ-बस्ति के शासनलेख से न केवल विरूपाक्ष राय और विशालकीर्ति की समसामयिकता का समर्थन होता है, जैसे कि पद्मावती-बस्ति के लेख से भी प्रकट है, बल्कि विशालकीर्ति जी की तिथि जो सन् १४६८ ई०

१ राइस, मैसूरु एण्ड कुर्ग फ्राम दी इन्स्क्रीपशन्स, पृ० ११२
२ स्वामी कन्नु, इण्डियन इफ्फेरिस, पंचम, पृ० १४६
३ इपी० कर्णा०, १०३, २७१
४ स्वामी कन्नु, इण्डियन इफ्फेरिस, पंचम, पृ० १४६
५ इपी० कर्नाटिक भाग ८ (Sa. 60) Ibid.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हमने पद्मावती-बस्ति लेख के आधार से निर्णीत की है, उसकी भी पुष्टि होती है। पार्श्वनाथ-बस्ति के शासनलेख के अनुसार विशालकीर्ति जी सन् १४७२ में भी जीवित थे।

इन स्थापित तिथियों के आधार से अब जरा पीछे चलकर आइये, दिल्ली के उन सुलतानों का परिचय प्राप्त करलें जिनके दरबार में विशालकीर्ति और सिंहकीर्ति ने उल्लेखनीय विजय प्राप्त की थी। विशालकीर्ति जी के विषय में कहा गया है कि उन्होंने सिकन्दर सुरित्राण से सम्मान प्राप्त किया था। इतिहास-विशारद जानते हैं कि सुरित्राण शब्द 'सुल्तान' का संस्कृतरूप है। साथ ही इतिहास से सिकन्दर नामक पाँच बादशाहों का होना प्रकट है। उनमें से दो दिल्ली के, एक काश्मीर के और एक बीजापुर के शासक थे। पाँचवे सिकन्दर, भोपाल की बेगम थी, जिन्होंने भी अपने को सिकन्दर नाम से पुकारा था। इन पाँचों सिकन्दर नामधारी बादशाहों में से अन्तिम दो इसलिये हमारे मतलब से परे हैं कि उनका समय १७वीं शताब्दी से भी बाद का है।[1] काश्मीर के हिन्दू-विरोधी सिकन्दर सुल्तान भी उपेक्षणीय है जिन्होंने सन् १३८६ से १४१० ई० तक राज्य किया था।

अब केवल दिल्ली के दो सुल्तान शेष रहते हैं, जिनके नाम क्रमशः सिकन्दर सुल्तान सिकन्दर लोदी और सुल्तान सिकन्दर सूर थे। इनमें से भी हम पहले सिकन्दर लोदी को छोड़ देते हैं, यद्यपि यह बात ज़रूर है कि उनका समय सन् १४८९—१५१७ ई० विशालकीर्ति जी के समय सन् १४६३—१४७२ ई० के बहुत निकट आता है। किन्तु इस उद्दण्ड और धर्मान्ध सिकन्दर लोदी से, जिसने मथुरा के मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया था,[2] यह आशा नहीं की जा सकती कि उसने जैन गुरुओं का अपने दरबार में सत्कार किया होगा!

अतः हम पद्मावती-बस्ति-शासनलेख के सिकन्दर सुरित्राण को सुल्तान सिकन्दर सूर मानने के लिये बाध्य हैं। यह हर कोई जानता है कि महान् शासक शेरशाह के भतीजे सिकन्दर सूर ने अपने भाई इब्राहीम सूर को परास्त करने के उपरांत, जो निकम्मे मुहम्मद शाह का चचेरा भाई था, सिन्धु और गंगा के मध्यवर्ती समूचे देश पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। यह बात सन् १५५४ ई० (नवम्बर) की है। बैराम खाँ से हारने पर सिकन्दर सूर के दिन ओछे आये और वह अपने प्राण लेकर भाग गया। दो वर्ष तक वह पंजाब में रुलता रहा। आख़िर मई सन् १५५७ ई० को मानकोट के घेरे में वह पूर्ण परास्त होकर अकबर की शरण आया।[3]

उपर्युक्त घटनाचक्र के अवलोकन करने से यह बात निश्चित प्रतीत होती है कि सन्

१ व १२ स्मिथ, ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री आव इण्डिया, पृ० २७२, २९७, ६२७
२ स्मिथ, पूर्व० पृ० २५३-२५४
३ ईश्वरीप्रसाद, हिस्ट्री ऑव दी मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ० ३१४-३४२

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१५५४ ई० में सुल्तान सिकन्दर सूर दिल्ली का शासक था। संभव है कि इसी साल में विशालकीर्तिजी इनके दरबारमें आये हों और सुल्तान ने उनका सत्कार किया हो। इसका अर्थ यह होता है कि विशालकीर्ति जी का अन्तिम समय सन् १५५४ ई० होना चाहिये। यदि यह मान लिया जाय तो विशालकीर्ति जी का कार्यकाल सन् १४६८ से १५५४ ई० तक होना चाहिये। वैसे वह ८६ वर्ष का लम्बा समय एक व्यक्ति के लिये अधिक है; परंतु जैनसाधुओं के इतिहास में यह अनोखा नहीं है।

अब आइये सिंहकीर्ति जी के समय को निश्चित करें जो विशालकीर्ति जी से पहले हो चुके थे। पद्मावती-बस्ति के लेख से उनके पारस्परिक सम्बन्ध का कुछ भी पता नहीं चलता है। हाँ, यह बात स्पष्ट है कि उनके मध्य में निम्नलिखित गुरु हो चुके थे अर्थात् मेरुनन्दि, वर्द्धमान, प्रभाचंद्र और अमरकीर्ति।

सिंहकीर्ति के विषय में हमें ज्ञात है कि उन्होंने अश्वपति के समय में ख्याति प्राप्त की थी। यह स्पष्ट नहीं है कि यहाँ अश्वपति किसी खास सम्राट् का अथवा स्वयं दिल्ली के सुल्तान का द्योतक है। इतिहास में 'अश्वपति' वाक्य का क्या प्रयोग हुआ है, यह देखना यहाँ अनुचित नहीं है। किसी-किसीका कहना है कि उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम क्षेत्रों के शासक अश्वपति, गजपति, नरपति और छत्रपति कहलाते थे[1]। सचमुच ये नाम निरे पौराणिक नहीं हैं, बल्कि भारतीय राजाओंके विरुद थे। किसी-किसी ग्रन्थ में अश्वपति का अर्थ "घोड़ों का सेनापति" (Lords of the Horses) लिखा है।[2] इस अर्थ में इस वाक्य का व्यवहार रामायण-काल में होता था। उस समय एक राजवंश 'अश्वपति' (Lords of the Horse) नामसे विख्यात था, जैसे कि मैक्क्रिन्डिल ने बहुत पहले बताया था। उस वंश का राज्य विपासा (ब्यास) नदीके पूर्वतट पर उसके और इरावती नदियों के मध्य पर्वतीय प्रदेश में था। 'रामायण' में उनकी राजधानी का नाम 'राजगृह' लिखा है, जो आज भी राजगिरि नाम से विद्यमान है।[3]

उत्तर के अश्वपति राजाओं का सर्वप्राचीन उल्लेख उदयगिरि के शिलाशासन में है, जो कुमारगुप्त के समय का सन् ४२५-४२६ ई० का है। उसमें लिखा है कि अश्वपति सैनिक संघिल और उसकी रानी पद्मावती का पुत्र शङ्करदेव था। यह राजा संभवतः गुप्तवंश का था, जैसे कि उक्त लेख से अनुमित होता है। किन्तु यह बात इस लेख की अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट है कि यह राजा उत्तर देश का था। उन पंक्तियों का भाव यह है, "सर्व-

---

१ नील, सि-यू-कि, भाग १ पृष्ठ १३; इण्डी० इण्डिका, भाग ३ पृष्ठ १३ नोट २

२ स्टोन, लोकप्रवास, भाग ४......

३ रामायण १२, मैक्क्रिंडिल, ऐंशियेंट इण्डिया, पृष्ठ १२४

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्रेष्ठ देश उत्तरापथ में जिसका जन्म हुआ, जिस देश का सादृश्य उत्तर कुरु देश से है।"[१]

गङ्ग महाराज मारसिंह के ताम्रपत्र में अश्वपति राजाओं के उत्तरीय राज्य का उल्लेख है। "वीरचूड़ामणि महाराज कृष्णराजदेव ने उत्तरदिशा की दिग्विजय को प्रस्थान करके अश्वपति राजा को जीतने की इच्छा रखनेवाले मारसिंह का गङ्गनाडि के शासकरूप में स्वयं अभिषेक किया।"[२] यह उल्लिखित कृष्णराजदेव महान् राष्ट्रकूट राजाओं में अंतिम कृष्णराज तृतीय थे।[३]

श्रवणबेलगोल के कूगे—ब्रह्मदेव स्तम्भलेख (सन् ९७४ ई०) से ज्ञात है कि वह स्वयं मारसिंह थे "जो गुर्जरराज" कृष्णराज (कृष्ण तृतीय) के लिये उत्तरदेश को जीतने के कारण कहलाये।[४]

अतः उपर्युल्लेखों से प्रमाणित है कि उत्तर देश में अश्वपति-राज्य का अस्तित्व था। अब रही बात 'गजपति' शब्द की, परंतु यह शिलालेख से ही स्पष्ट है कि गजपति-राज्य पूर्व में था। उड़ीसा के गजपति राजाओं ने ११वीं शताब्दी के अंतिम पाद से १६वीं शताब्दी ई० के अंतिम पाद तक राज्य किया था।[५] वह राजा कर्णाटक-वंश के थे।

उड़ीसा के अंतर्गत धौली से प्राप्त अशोक के एक शिला-शासन पर अङ्कित हाथी की मूर्ति, जैसे कि स्व० श्रीराखालदास बनर्जी ने बताया, उल्लेखनीय है, क्योंकि उससे यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से ही उड़िसा हाथियों का देश माना जाता है।[६] उधर विक्रम सं० ६११ के लिखे हुए मौखारि राजा ईशान वर्म के शिलालेख में उड़ीसा के आंध्रों का उल्लेख 'त्रयोमुख-मत्त हाथियों के अधिकारी' रूप में हुआ है।[७] महाकवि कालीदास ने कलिङ्ग-शासक का उल्लेख 'गजसाधनः' रूप में करके उस देश को "हाथियों का देश" ही खास तौर पर घोषित किया है।[८]

ईस्वी १२वीं शताब्दी के मध्य से ई० १६वीं शताब्दी के मध्यवर्ती काल के कर्नाटक शिलालेखों में बहुधा अश्वपति, हयपति, तुरगपति, गजपति और नरपति राजाओं का उल्लेख हुआ मिलता है।[९] विजयनगर महाराजाओं ने पहले 'अश्वपति' विरुद को ग्रहण किया था,

१ फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिप्शन्स, भाग ३ पृष्ठ २६०

२ मैसोर आर्कालॉजिकल रिपोर्ट सन् १९२१, पृष्ठ २३

३ राष्ट्रकूटस, पृष्ठ १२२

४ इपी० कर्ना०, भाग २ पृष्ठ ११

५ मैसोर इंस्क्रिप्शन्स, xlvii.

६ बनर्जी, हिस्ट्री ऑव ओड़ीसा, १ पृष्ठ ६०

७ इपी० इण्डिका, १४ पृष्ठ ११०-१२१; बनर्जी पृष्ठ ११०

८ रघुवंश ४।४०

९ इपी० कर्नाटिका, ४ पृष्ठ १३१ इत्यादि

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैसे हरिहर राय द्वितीय ने सन् १९३५ ई० में किया था,[१] परंतु उपरांत उन्होंने अश्वपति, गजपति और नरपति विरुदों को एक साथ धारण किया था, जैसे कि उपर्युक्त महाराज ने सन् १४०३ ई० में किया था।[२] महान् कृष्णदेव राय की दिग्विजय के परिणाम-स्वरूप और खासकर उनके सन् १५२० में मुसलमानों को हराने के[३] कारण विजयनगर-राजाओं को 'अश्वपति' और 'गजपति' विरुद धारण करने का अधिकार प्राप्त था।[४]

गोलकुण्डा के सुल्तान ने भी 'अश्वपति' विरुद धारण किया था जैसे कि शक १५२२ (सन् १६०० ई०) के एक शिलालेख से प्रमाणित है।[५] चूंकि गोलकुण्डा-शासक का समय हमारे मतलब के लिये बहुत अर्वाचीन है और चूंकि यह असंभव है कि एक स्वाधीन हिंन्दू राज्य, जिसका शासक अश्वपति नाम से विख्यात था, १६वीं शताब्दी में व्यास नदी के किनारे हो जबकि मुसलमान विजेता सिंधु और उसकी परवर्ती नदियों के मध्यवाले देश में सर्वत्र अच्छी तरह जम गए थे, तब हम यही अनुमान कर सकते हैं कि पद्मावती-बस्ति के लेख में जिस अश्वपति का उल्लेख है वह दिल्ली का मुसलमान शासक ही था। उसके व्यक्तित्व का पता अब उत्तरीय भारत के इतिहास की प्रख्यात घटनाओं के आधार से लगाना शेष है।

राइस साहब ने यह शब्द बढ़ा कर लिखा है कि "सुकुमार महमूद सुरित्राण" दिल्ली नगर के शासक; जब कि मूललेख में केवल यह शब्द है: "श्रीमत् दिल्लीपुरे......मूदसुरित्राणस्य माराकृतेः।" अतः यह समझ में नहीं आता कि राइस सा० ने 'मूदसुरित्राण' वाक्य का अर्थ 'सुकुमार महमूद सुरित्राण' कैसे कर दिया! इसी तरह राइस सा० 'तत न भूसनाढ्य देववृत' वाक्य को 'तत नयो वङ्गाल्य देशावृत' बताते हैं। राइस साहब की रचना को मान्यता देते हुए, केवल यह देखिये कि उल्लिखित दिल्ली का शासक कौन है?

यह ऊपर लिखा जा चुका है विशालकीर्त्ति जी का प्राचीनतम समय सन् १४६८ ई० है। इनके और सिंहकीर्ति जी के बीच में चार गुरु और हैं। यदि प्रत्येक का समय तीस वर्ष माना जाय तो उनका समय यूं बैठता है: विशालकीर्ति सन् १४६८; अमरकीर्ति सन् १४३८ ई०; प्रभाचंद्र सन् १४०८ ई०; वर्द्धमान सन् १३७८ ई०; और मेरुनन्दि सन् १३४८ ई०। सिंहकीर्ति, जो मेरुनंदि से पहले हुए हैं, उनका समय अवश्य सन् १३४८ ई० से पहले होना चाहिये।

१ इपी० कर्ना० भाग ८ पृष्ठ १५
२ इपी० कर्ना० १२ पृष्ठ १०१ इत्यादि
३ राइस, मैसूर एण्ड कुर्ग पृ० ११८
४ इपी० कर्ना० ६ पृष्ठ ६१
५ सन् १९२२ की ८४१ आदि

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आइये पाठक महाशय, अभीतक जो कुछ लिख आये हैं उसकी जाँच भी कर लें। इसके लिये आवश्यक है कि अन्य स्रोत से उक्त समय की पुष्टि हो—अमरकीर्ति जी से वर्द्धमान जी तक जो समय निर्णीत किया गया है उसका पोषण अन्य शिलालेखों से भी होना चाहिये। उपर्युक्त वर्द्धमान संभवतः श्रवणबेल्गोलस्थ शिलालेख सन् १३७२ ई० में उल्लिखित वर्द्धमान हैं।[१] यह जरूर है कि इस शिलालेख में दी हुई शिष्य-परम्परा का सामञ्जस्य पद्मावती-बस्ति के शिलालेख में वर्णित शिष्य-परम्परा से नहीं बैठता। अमरकीर्ति जी वह अमरकीर्ति हैं जो धनिक वैश्य मायण के गुरु और जैनाचार्य लक्ष्मीसेन भट्टारक के समकालीन थे। इन लक्ष्मीसेन भट्टारक का समय शक १३२८ (सन् १४०५ ई०) होने के कारण उनके समकालीन अमरकीर्ति का समय भी वही होना उचित है।[२] इसका अर्थ यह है कि अमरकीर्ति का अस्तित्व सन् १४०५ ई० से सन् १४३८ ई० तक माना जाना चाहिये।

दिल्ली सुल्तान का परिचय पाने के पहले कि जिनके दरबार में सिंहकीर्ति जी ने प्रतिवादियों को परास्त किया था, उनके व्यक्तित्व के विषय में निम्न बातों की पूर्ति होना आवश्यक है; अर्थात् उन सुल्तान को तत्त्वज्ञान के प्रति विशेष अभिरुचि थी, वह इस्लाम के अतिरिक्त अन्य मतों के तत्त्ववेत्ताओं से वाद किया करते थे, वह बङ्गाल देश के स्वामी थे और उनके नाम के अन्त में 'मूद' वाक्य आता था। दिल्ली के सुल्तानों में केवल मुहम्मद तुग़लक़ ही एक ऐसे सुल्तान थे कि जिनके व्यक्तित्व में उपर्युक्त सभी बातें मिलती हैं। वह सन् १३२५ ई० में तख़्त-नशीन होकर सन् १३५१ ई० तक राज्य करते रहे। डा० ईश्वरी प्रसाद ने इन सुल्तान के विषय में जो ग़लतफहमी थी उसको दूर करते हुए, स्पष्ट कर दिया है कि सुल्तान महमूद या मुहम्मद तुग़लक़ दिल्ली के मुसलमान बादशाहों में बहुत ही विद्वान् और योग्यता-सम्पन्न शासक थे। वह इस्लाम और अरस्तू के सिद्धांत को खूब जानते थे। उन्हें तत्त्ववेत्ताओं से वाद करने का प्रेम था। उनकी तर्कशालीनता के सम्मुख अच्छे अच्छे तार्किक कन्नी काटते थे। उन्हें हिन्दुओं की धर्ममान्यताओं के प्रति भी सम्मान था। और सन् १३३७ ई० तक बङ्गाल भी उनके अधिकार में था। उसी साल फ़खरूद्दीन ने लखनौती की गवर्नरी हथिया कर अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया था।[३]

अतः इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं, यदि सिंहकीर्ति जी ने सुल्तान मुहम्मद तुग़लक़ के दरबार में प्रसिद्धि प्राप्त की हो। दिल्ली के सुयोग्य सुल्तान-द्वारा निमंत्रित किये गये तत्त्ववेत्ताओं में वह भी एक होंगे। यह कहना कि सुल्तान के सम्मुख उन्होंने कब वादियों को परास्त

१ इपी० कर्ना० भाग २ पृष्ठ १२५

२ मैसूर आर्का० रिपोर्ट सन् १९२७ पृष्ठ ६२ व सन् १९३४ पृष्ठ १७६

३ ईश्वरी प्रसाद, 'मुस्लिम रूल'—पृष्ठ १३४—१३५, १४८, १४९

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

किया कठिन है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि सुल्तान मुहम्मद तुग़लक़ ने सन् १३२६ ई० में अपनी सरकार दिल्ली से हटाकर देवगिरि (दौलताबाद) में स्थापित की थी और सन् १३३७ ई० में बङ्गाल को वह गँवा बैठे थे। पहली घटना और दिल्ली तथा दक्षिण के सुल्तानी प्रांतों की घनिष्ठता[1] से यह स्पष्ट है कि सुल्तान कर्नाटक और दक्षिण के लोगों के विशेष सम्पर्क में आये होंगे। उधर पद्मावती-बस्ति के शिलालेख से यह स्पष्ट ही है कि सिंहकीर्ति जी के वाद-समय में बङ्गाल सुल्तान के अधिकार में था। इन बातों के आधार से अनुमान किया जा सकता है कि सिंहकीर्ति जी ने सुल्तान मुहम्मद तुग़लक़ के दरबार में सन् १३२६ ई० और सन् १३३७ ई० के मध्य सम्मान प्राप्त किया था।[2]

(कर्नाटक हिस्टारीकल रिव्यू में प्रकट अंग्रेजी लेख का अनुवाद। —का० प्र०)

---

१ ईश्वरी प्रसाद, पृ० १३८

२ मालूम होता है कि सुल्तान मुहम्मद तुग़लक़ को सांस्कृतिक संस्कार अपने सुयोग्य पिता सुल्तान ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ से उत्तराधिकार में मिले थे, जिनके दो मंत्री प्रागवाट जाति के जैनी सरदार सूर और नानक थे। यह उल्लेख सोमचरित्रगणि कृत 'गुरुगणरत्नाकर' (१४८५ ई०) में है। इसमें और भी द्रष्टव्य उल्लेख है।

भगवान् पुष्पदन्त और पूज्यपाद स्वामी

[लेखक—श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री]

वर्त्तमान में उपलब्ध होनेवाले श्रुतज्ञान के सर्वप्रथम लिपिबद्धकर्त्ता या उद्धारक भगवान् पुष्पदन्त और भगवान् भूतबलि हुए हैं। इनका समय भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग ६०० वर्ष बाद का है। भ० पुष्पदन्त ने सर्वप्रथम जिस रचना को लिपिबद्ध किया, वह सूत्रात्मक 'जीवट्ठाण' है। इसके ऊपर आचार्य वीरसेन ने 'धवला' नाम की टीका साठ हजार श्लोकों प्रमाण बनायी। आज इस सिद्धान्तशास्त्र की 'धवल' इस नाम से प्रसिद्धि है। लोकप्रसिद्धवश मैं इस लेख में 'जीवट्ठाण-सिद्धान्त' को 'धवल-सिद्धान्त' नाम से उल्लेख करूंगा।

भ० उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वप्रथम टीकाकार पूज्यपाद स्वामी माने जाते हैं, हालां कि इसके पूर्व में स्वामी समन्तभद्र तत्त्वार्थ सूत्रपर 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' के रचयिता प्रसिद्ध हैं। किन्तु आज के उपलब्ध जैन वाङ्मय में उसके अवतरण या उल्लेख न पाये जाने से ऐतिहासिकों को उस के अस्तित्व में सन्देह है। कुछ भी हो इस वक्त उस के बाबत मुझे कुछ नहीं कहना है, उसका निर्णय तो भविष्य में उपलब्ध होनेवाला जैन साहित्य ही करेगा। किन्तु यह तो निश्चित ही है कि तत्त्वार्थसूत्र पर जितनी भी दि० या श्वे० टीकायें उपलब्ध हैं, उन सब में 'सर्वार्थसिद्धि' ही सबसे प्राचीन मौलिक एवं प्रामाणिक मानी जाती है। पूज्यपाद का समय विक्रम की पाँचवीं-छठीं शताब्दी माना जाता है और इस प्रकार से भगवान् पुष्पदन्त के लगभग पांच सौ वर्ष बाद उनका समय ठहरता है।

सर्वार्थसिद्धि की—प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र (सत्संख्या०) की टीका अपना खास महत्त्व रखती है। उसमें पायी जानेवाली विशेषता न राजवार्तिक में दृष्टिगोचर होती है और न श्लोक वार्तिक या तत्वार्थसूत्र की अन्य दि० श्वे० टीकाओं में ही। इस सूत्र की टीका का गम्भीर एवं गवेषणात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि पूज्यपाद स्वामी के समय तक भगवान् पुष्पदन्त के 'जीवट्ठाण' सिद्धान्त का पठन-पाठन बहुलता के साथ प्रचलित था, क्योंकि इस (सत्संख्या०) सूत्र की समग्र टीका में धवल-सिद्धान्त के मूलसूत्रों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मैं यहाँ पर केवल सत्प्ररूपणा के कुछ उद्धरण देकर उक्त बात को पुष्ट करूंगा—

धवल सिद्धान्त— सत्प्ररूपणा		सर्वार्थसिद्धि प्र० अ० सू० ८
१—अत्थिमिच्छाइट्ठी	सूत्र ७	मिथ्यादृष्टिः
२—सासणसम्माइट्ठी	„ ८	सासदनसम्यग्दृष्टिः
३—सम्मामिच्छाइट्ठी	„ ९	सम्यग्मिथ्यादृष्टिः
४—असंजदसम्माइट्ठी	„ १०	असंयतसम्यग्दृष्टिः
५—संजदासंजदा	„ ११	संयतासंयतः
६—पमत्तसंजदा	„ १२	प्रमत्तसंयतः
७—अपमत्तसंजदा	„ १३	अप्रमत्तसंयतः
८—अपुव्वकरणपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा	„ १४	अपूर्वकरणस्थाने उपशमकः क्षपकः
९—अणियट्टिबादरसांपराएपविट्ठसुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा	„ १५	अनिवृत्तिबादरसाम्परायस्थाने उपशमकः क्षपकः
१०—सुहुमसांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा	„ १६	सूक्ष्मसाम्परायस्थाने उपशमकः क्षपकः
११—उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था	„ १७	उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थः
१२—खीणकसायवीयरायछदुमत्था	„ १८	क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थः
१३—सजोगकेवली	„ १९	सयोगकेवली
१४—अजोगकेवली	„ २०	अयोगकेवली चेति
१५—संतपरूवणाए दुविहो णिद्देसो-ओघेण आदेसेण य	„ ६	सत्प्ररूपणा द्विधा सामान्येन विशेषेण च
१६—आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि	„ २२	विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथ्वीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति
णेरइया चउट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति	„ २३	

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१७—तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजद त्ति	सूत्र २४	तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति
१८—मणुस्सा चोद्दसगुणट्ठाणेसु अत्थि मिच्छा०......................... जाव अजोगकेवलि त्ति	,, २५	मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति
१९—देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छा० सास० सम्मामि० असं०	,, २६	देवगतौ नारकवत्
२०—एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिं० एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिट्ठाणे	,, ३४	इन्द्रियानुवादेन—एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्
२१—पंचिंदिया० अजोगकेवलि त्ति	,, ३५	पंचेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति
२२—कायाणुवादेण०..................	,, ४०	
पुढविकाइया आउका० तेउका० वाउका० वणप्फइका० एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठिट्ठाणे	,, ४१	कायानुवादेन पृथिवीकायिकादिषु वनस्पतिकायान्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्
२३—तसकाइया बीइंदियप्पहुदि जाव अजोगिकेवलि त्ति	,, ४३	त्रसकायेषु चतुर्दशापि सन्ति
२४—जोगणुवादेण०................	,, ४५	
मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगकेवलि त्ति	,, ६२	योगानुवादेन त्रिषु योगेषु त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति
२५—वेदाणुवादेण०..................	,, ९८	वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानि सन्ति।
इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति	,, ९९	
णवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव जाव अणियट्टि त्ति	,, १००	
२६—तेण परमवगदवेदा चेदि	,, १०१	अपगत वेदेषु अनिवृत्ति बादराद्ययोगकेवल्यन्तानि।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

२७—कसायाणु-वादेण०	सूत्र १०८	कषयानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्या-दृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरस्थानान्तानि सन्ति
कोधकसाई माणकसाई माया कसाई एइंदियप्पहुडि जाव अणि-यट्टि त्ति	,, १०९	
२८—लोभकसाई एइंदियप्पहुडि जाव सुहुमसांपराइय सुद्धि संजद त्ति	,, ११०	लोभकषाये तान्येव सूक्ष्म साम्परायस्थानाधिकानि
२९—अकसाई चउट्ठाणेसु अत्थि उव-संतकसायवीयरायछदुमत्था खीणकसाय वीम० सजोगकेवली अजोगकेवलि त्ति	,, १११	अकषायः उपशान्तकषायः क्षीणकषायः सयोगकेवली अयोगकेवली चेति
३०—णाणाणुवादेण अत्थि०	,, ११२	ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिश्चास्ति
मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी एइंदियप्पहुडि जाव सासण सम्माइट्ठि त्ति	,, ११३	
विभंगणाणं सण्णिमिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा	,, ११४	
३१—सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे तिण्णि वि-णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि याभिणिवोहियणाणं मादिअण्णा-णेण मिस्सियं सुदणाणं सुदअ-ण्णाणेण मिस्सियं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं तिण्णि वि-णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा	,, ११६	
३२—आभिणिवोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं असंजदसम्माइट्ठिप्प-हुडि जाव खीणकसाय वीदराग-छदुमत्थ त्ति	,, ११७	आभिनिबोधकश्रुतावाधिज्ञानेषु असंयत-सम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति
३३—मणपज्जवणाणी पमत्तसंज-दप्पहुडि जाव खीणकसायवीद-राग-छदुमत्थ त्ति	,, ११८	मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः सन्ति

Ac. Gunratnasuri MS　　Jin Gun Aradhak Trust

३४—केवलणाणी तिसु ठाणेसु सजोग-केवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि	„ ११९	केवलज्ञाने सयोगोऽयोगश्च
३५—संजमाणुवादेण०	„ १२०	संयमानुवादेन संयताः प्रमत्तादयोऽग केवल्यन्ताः ।
संजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अजोगकेवलि त्ति	„ १२१	
३६—सामाइयछेदोवट्ठाणसुद्धिसंजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति	„ १२२	सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयताः प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिस्थानान्ताः ।
३७—परिहारसुद्धिसंजदा दोसु ठाणेसु पमत्तसंजदट्ठाणे अपमत्त-संजदट्ठाणे	„ १२३	परिहारविशुद्धिसंयतौ प्रमत्ताप्रमत्ताश्च
३८—सुहुमसंपरायसुद्धिसंजदा एक्कम्मि चेय सुहुमसंपराइयसुद्धि संजदट्ठाणे	„ १२४	सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयता एकस्मिन्नेव सूक्ष्मसाम्परायस्थाने
३९—जहक्खादविहारसुद्धिसंजदा चदुसु ट्ठाणेसु उवसंतकसायवीय-रायछदुमत्था खीणकसायवी० सजोगकेवली अजोग केवलि त्ति	„ १२५	यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः—उपशांतकषायादयोऽयोगकेवल्यन्ताः
४०—संजदासंजदा एकम्मि चेय संजदा-संजदट्ठाणे	„ १२६	संयतासंयता एकस्मिन्नेव संयतासंयतस्थाने
४१—असंजदा एइंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति	„ १२७	असंयता आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानेषु
४२—दंसणाणुवादेण०	„ १२८	दर्शनानुवादेन चक्षुर्दशनाचक्षुर्दशनयोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति
चक्खुदंसणी चउरिंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति	„ १२९	
अचक्खुदंसणी एइंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्थ त्ति	„ १३०	
४३—ओहिदंसणी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव खीणकसायवीयराय छदुमत्थ त्ति	„ १३१	अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीण कषायान्तानि

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

४४—केवलदंसणी तिसु ट्ठाणेसु सजोग-केवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि	,,	१३२	केवलदर्शने सयोगकेवली अयोगकेवली च
४५—लेस्सावादेण०	,,	१३३	लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकपोतलेश्यासु मि-थ्यादृष्ट्यादीनि असंयतसम्यग्दृष्ट्य-न्तानि सन्ति
किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउ-लेस्सिया एइंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति	,,	१३४	
४६—तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अपमत्तसंजद त्ति	,,	१३५	तेज:पद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि अप्रमत्त-स्थानान्तनि।
४७—सुक्कलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगकेवलि त्ति	,,	१३६	शुक्ललेश्यायां मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोग-केवल्यन्तानि
४८—तेण परमलेस्सिया	,,	१३७	अलेश्या अयोग-केवलिनः।
४९—भवियाणुवादेण०	,,	१३८	भव्यानुवादेन भव्येषु चतुर्दशापि सन्ति
भवसिद्धिया एइंदियप्पहुडि जाव अजोगकेवलि त्ति	,,	१३९	
५०—अभवसिद्धिया एक्कम्मि चेय मि-च्छाइट्ठिट्ठाणे	,,	१४०	अभव्या आद्य एव स्थाने
५१—सम्मत्ताणुवादेण०	,,	१४१	सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अयोगकेवल्य-न्तानि सन्ति
सम्माइट्ठीखइयसम्माइट्ठीअसं-जदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोग-केवलि त्ति	,,	१४२	
५२—वेदगसम्माइट्ठी असंजदसम्मा इट्ठिप्पहुडि जाव अपमत्त-संजद त्ति	,,	१४३	क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे असंयत-सम्यग्दृष्ट्यादीनि अप्रमत्तान्तानि
५३—उवसमसम्माइट्ठीअसंजदसम्मा-इट्ठिप्पहुडि जाव उवसंतकसाय-वीदरागछदुमत्थ त्ति	,,	१४४	औपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्य-ग्दृष्ट्यादीनि उपशांतकषायान्तानि
५४—सम्मामिच्छाइट्ठी एक्कम्मि चेव सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे	,,	१४५	

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सासणसम्माइट्ठी एक्कम्मि चेव-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे	,, १४६	सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यङ्मिथ्यादृष्टि-मिथ्यादृष्टिश्च स्वे स्वे स्थाने
मिच्छाइट्ठी एइंदियप्पहुडि जाव सण्णिमिच्छाइट्ठि त्ति	,, १४७	
५५—सण्णियाणुवादेण०	,, १७०	संज्ञानुवादेन संज्ञिषु द्वादशगुणस्थानानि क्षीणकषायन्तानि
सण्णोमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरागछदुमत्थ त्ति	,, १७१	
५६—असण्णीएइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिय त्ति	,, १७२	असंज्ञिषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्
५७—आहाराणुवादेण०	,, १७३	आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्या-दीनि सयोगकेवल्यन्तानि
आहारा एइंदियप्पहुडि जाव सयोगकेवलि त्ति	,, १७४	
५८—अणाहारा चदुसु ट्ठाणेसु विग्गहगइसमावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदाणं अजोग-केवली सिद्धा चेदि	,, १७५	अनाहारकेषु विग्रहगत्यापन्नेषु त्रीणि गुण स्थानानि–मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्य० असंयतसम्यग्दृष्टिश्च । समुद्घातगतः सयोगकेवली अयोगकेवली च

उपर्युक्त उद्धरणों को देखते हुए यह कहने को मन चाहता है कि मानों भगवान् पुष्पदन्त के सिद्धान्त-सूत्रों का पूज्यपाद स्वामी ने संस्कृतानुवाद कर दिया हो। किन्तु ऐसा मान लेने पर भी पूज्यपाद स्वामी के असमान पाण्डित्य में कोई बट्टा नहीं आता, क्योंकि पूज्यपाद स्वामी के समय में संस्कृत भाषा का ही सर्वत्र प्राबल्य था। उसमें ही सर्व मतमतान्तरों के विद्वान् अपने अपने धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक ग्रन्थों की रचना कर रहे थे और उस समय ब्राह्मणों का संस्कृत-भाषा-पाण्डित्य सर्वत्र विचर रहा था, इसलिए जैनाचार्यों को भी यह उचित प्रतीत हुआ कि जैन वाङ्मय सम्बन्धी साहित्य की रचना भी संस्कृत भाषा में ही की जाय जिससे हमारा साहित्य जैनेतर साहित्य के मुकाबिले में किसी प्रकार हीन न समझा जाय। इसके पूर्व तक सारा जैन साहित्य प्राकृत भाषामय था पर पांडित्याभिमानी-ब्राह्मणों ने अपने नाटकादि ग्रंथों में संस्कृत के मुकाबिले में प्राकृत भाषा का नीचा स्थान दिया अर्थात् नीच पात्रों की भाषा प्राकृत रखी और सर्वसाधारण की दृष्टि में प्राकृत हल्की भाषा समझी जाने लगी तब जैनाचार्यों को भी संस्कृत भाषा अपनानी पड़ी।

पाठकगण यहां यह शंका उपस्थित कर सकते हैं, कि यह कैसे मान लिया जाय कि पूज्यपाद के सामने सिद्धांत-सूत्र रहे हैं और उन्होंने उनका संस्कृतानुवाद सर्वार्थसिद्धि में

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दिया है। परन्तु इसका उत्तर हमें इसी लेख के नं० ३१ से मिल जाता है जिसमें मिश्रगुणस्थान के मिश्रज्ञानों का वर्णन सिद्धांत-सूत्र में तो किया गया है पर सर्वार्थसिद्धि में उक्त बात बिलकुल ही नहीं दी गई है। कोई यह कह सकते हैं कि संभव है, पाठ छूट गया हो पर यथार्थ में पाठ नहीं छूटा है। किंतु जान बूझ कर वह विषय छोड़ा गया सा प्रतीत होता है। कारण कि पूज्यपाद स्वामी के हृदय में यह तर्क उठा कि सम्यक्त्वता या मिथ्यापना तो 'दर्शन' के साथ सम्बन्ध रखने वाली वस्तुयें हैं, यहां ज्ञान में उनका क्या सम्बन्ध? फिर भी उनके हृदय में यह प्रश्न खड़ा ही रहा कि मिश्रगुणस्थानवर्ती ज्ञानों को 'ज्ञान' कहा जाय या 'अज्ञान'? यदि ज्ञान मानें—तो उनकी गिनती सम्यग्ज्ञानरूप मति श्रुत ज्ञान की गुणस्थान-संख्या के साथ होना चाहिए और यदि 'अज्ञान' मानें तो उनकी गिनती कुमति कुश्रुत ज्ञान के गुणस्थानों के साथ की जानी चाहिए? पर वे तो उसे एकदम ही छोड़ गए हैं जो कि एक विचारणीय बात है। परन्तु धवलसिद्धांत के मूल सूत्रकार तो उसे बहुत ही स्पष्ट सूत्र-द्वारा (सूत्र नं० ११९) उस बात को प्रकट करते हैं कि इस मिश्रगुणस्थान में जब मिश्रभाव है, मिश्र सम्यक्त्व है, तो फिर उनके ही अनुरूप मिश्रज्ञान भी क्यों न मान लिया जाय। इसीलिये उन्होंने उसे तदनुसार ही सूत्र में निबद्ध किया है।

श्रुतसागर सूरि ने भी श्रुतसागरी टीका में इसी स्थान पर निम्न प्रकार से शंका उठाकर इसका समाधान करना चाहा है, पर वे भी इसका उचित समाधान नहीं कर सके हैं। क्योंकि जो समाधान किया है उसकी पुष्टि किसी सिद्धांतग्रंथ से नहीं होती, बल्कि विरोध ही आता है। वह अंश इस प्रकार है:—

"सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमज्ञानं च केवलं न संभवति, तस्याज्ञानत्रयाधारत्वात्। उक्तं च—'मिस्सेणाणत्तयं मिस्सं अण्णाणत्तयणेति।' तेन ज्ञानानुवादे मिश्रस्यानभिधानं, तस्याज्ञान-प्ररूपणायामेवाभिधानं ज्ञातव्यम्। ज्ञानस्य (?) यथावस्थितार्थविषयत्वाभावात्।"

यह बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि श्रुतसागरी टीका बिलकुल ही सर्वार्थसिद्धि का शब्दशः अनुकरण करती हुई लिखी गई है, जिसका अर्थ यह होता है कि श्रुतसागरसूरि के हृदय में भी यह शंका उठी कि पूज्यपाद स्वामी ने इस मिश्रगुणस्थान में ज्ञान या अज्ञान का निरूपण क्यों नहीं किया? उसका समाधान उन्होंने उक्त रूप में करना चाहा है, पर यह एक आश्चर्य की ही बात है कि स्वयं ही सिद्धांतसूत्र का उद्धरण देते हुए उन्होंने मिश्रगुणस्थान में मिश्रज्ञान कहने का साहस नहीं किया। क्योंकि उनके ध्यान में संभवतः यह बात सामने रही मालूम पड़ती है कि यदि हम इस गुणस्थान में मिश्रज्ञान मानेंगे तो लोग इसे पूज्यपाद

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

की त्रुटि समझेंगे या फिर हमारे ही कथन को अप्रमाण समझेंगे। इसलिए उन्होंने उस बात की ओर संकेत भी किया, सिद्धांतसूत्र का उद्धरण भी दिया और एक हलका सा समाधान भी कर दिया। जो कुछ भी हो पर इतना तो इस बात से पता चलता ही है कि श्रीपूज्यपाद स्वामी के सामने सर्वार्थसिद्धि रचते समय धवलसिद्धांत के मूलसूत्र अवश्य थे। इस बात का और भी प्रबल समर्थन आगे की संख्या, क्षेत्र आदि प्ररूपणाओं के देखने से बखूबी हो जाता है जिसका यह अर्थ होता है कि आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व इस सिद्धांतग्रंथ का पठन-पाठन बहुत जोरों से होता रहा है और होना ही चाहिये था—क्योंकि यही अमूल्यनिधि तो हमारे महर्षियों ने विरासत में सौंपी है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

क्या दिगम्बर समाज में तपागच्छ और खरतरगच्छ थे ?

[लेखक—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा]

भास्कर की विगत किरण में बाबू कामताप्रसाद जी ने 'श्रीसंघ तपागच्छ और खरतरगच्छ' सम्बन्धी एक लघु लेख प्रकाशित किया है। उससे दिगंबर जैनों के काष्ठासंघ में तपा और खरतरगच्छ का उल्लेख व सम्बन्ध बतलाने की चेष्टा की गई है, परन्तु जाँच करने पर वह ठीक नहीं ज्ञात होती, वस्तुतः दिगंबर सम्प्रदाय में तपागच्छ एवं खरतरगच्छ नाम का कोई भी गच्छ नहीं हुआ, किसी भी दिगंबर ग्रन्थ से इस संबंध में कोई भी सूचना आज तक नहीं मिली। लेखक महोदय ने जिन दो लेखों की नक़ल तपागच्छ के प्रमाणस्वरूप दी है, उनके अर्थ निकालने और समझने में भ्रान्ति हुई ज्ञात होती है। संवत् १७६५ माघ बदी ५ सोमवार वाला लेख तपागच्छीय विजयरत्नसूरि का है जिसकी पूरी नकल बाबू पूरणचंद्र जी नाहर के जैनलेख-संग्रह भाग १, पृष्ठ १५ लेखाङ्क ६४३ के अनुसार नीचे लिखी जाती है।

"संवत् १७६५ वर्षे माघमासे कृष्णपक्षे पंचमीतिथौ सोमवासरे भट्टारकश्रीविजयरत्नकेश्वर तपागच्छे काष्ठासंघे आ० पु० दे० वृ० शा० मुहतागोत्रे मुहताजी श्रीरामचन्द्रजी तस्य भार्या बाई सूर्यदेवि तस्यात्मज मुहताजी श्रीसोभागचंदजी मुहताजी श्रीसातुजी भाई मुहताजी श्री हरजीजी श्रीपार्श्वनाथजिनबिंबं स्थापितं।"

इस में उल्लिखित विजयरत्नसूरि श्वे० तपागच्छ में ही हुए हैं जिसके कतिपय प्रमाण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

(१) नाहर जी के उक्त लेखसंग्रह के लेखांक ३०० में संवत् १७७१ का एक लेख विजयरत्नसूरि के समय में प्रतिष्ठित है, वह इस प्रकार है:—

"सं० १७७१ वर्षे शाके १६३६ वर्षे मगसिर सुदि १ शुक्रे मान्नपुरवास्तव्य मोरगाणे गोत्रीय सा० वेणीदास तत्पुत्र सा० भीमसी तत्पुत्र सा० मयाचंद वासी हाजीपुर पटना का० तेन शान्तिबिंबं गृहीतं श्री मेदिनीपुरे प्रतिष्ठितं श्रीतपागच्छे भ० विजयरत्नसूरि राज्ये, पं० जयविजयगणिभिः॥ श्री॥"

इस लेख में काष्ठासंघ का कोई उल्लेख नहीं है। हो भी कैसे जब कि ये श्वेताम्बर तपागच्छ में ही हुए हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(२) 'पट्टावला-समुच्चय' पृष्ठ १७६ में आपका विशेष परिचय इस प्रकार दिया है :—

"तत्पट्ट (विजयप्रभसूरि) ६३ श्रीविजयरत्नसूरि पिता हीरानंद माताहीरादे पाल्हणपुरे जन्म, सं० १७२२ दीक्षा, सं० १७३२ आचार्यपदं सं० १७५० सूरिपदं सर्वायु ६३ वर्षाणि प्रपाल्य सं० १७७३ भाद्रवा बदि २ उदयपुरे स्वर्ग गतः।"

पृष्ठ १६२ में इन्हीं विजयरत्नसूरि के भ्राता पं० विमलविजयगणि के वाचनार्थ उ० रविवर्द्धन गणी समुद्धृत 'पट्टावलीसारोद्धार' छपा है जिसकी रचना सं० १७४० में विजयरत्नसूरि की विद्यमानता में ही हुई है, उसमें भी लिखा है :—

"श्रीसूरयः संवत् १७३२ वर्षे श्रीनागौर नगरे पालणपुरवास्तव्य अकेशज्ञातीय-सा० हीराभार्या हीरादे पुत्ररत्नं श्रीविजयरत्नसूरिं स्वपट्टे संस्थाप्य श्रीमेड़तानगरे चतुर्मासकं तस्थौ।"

(३) 'जैनगूर्जरकविओ' भाग २ पृष्ठ ७२९ में आपका विशेष परिचय दिया है। विस्तार भय से यहां नहीं दिया जाता, पाठकों को वह ग्रंथ देख लेना चाहिये।

(४) 'जैन ऐतिहासिक गुजरकाव्यसंचय' पृष्ठ ३७ में रामविजयविरचित 'विजयरत्न सूरिनिर्वाणरास' प्रकाशित है उसमें आप के जन्म से निर्वाण तक की घटनाओं के ऐतिहासिक वर्णन में चित्तौड़ के राणा को प्रतिबोध और उदयपुर में चार चातुर्मास करने और स्वर्गवास भी वहीं होने का लिखा है। अतः धुलेवा का उपर्युक्त लेख अवश्य आपके प्रतिष्ठित ही है और आप श्वेतांबर तपागच्छीय ही थे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। उपर्युक्त लेख में काष्ठासंघ लिखा है वह मूर्ति बनानेवाले श्रावक के गच्छ का द्योतक होगा। श्वेतांबर समाज में ऐसी उदारताएं बहुत सी दृष्टिगोचर होती हैं जिनके विषय में एक विस्तृत निबन्ध लिखा जा सकता है।

श्वेतांबर मन्दिरों में आज भी अनेक दिगम्बराचार्य प्रतिष्ठतमूर्तियां निःसंकोचतया पूज्य भाव से पूजी जाती हैं और कई प्रतिमाएं तो मूलनायकरूप से भी विद्यमान हैं। श्वेतांबर समाज के जैनलेखसंग्रह जो नाहरजी और बुद्धिसागर सूरि जी आदि द्वारा सम्पादित प्रकट हुए है, उनमें अनेकों लेख दिगंबराचार्यप्रतिष्ठित मूर्त्तियों के भी हैं।

दूसरा लेख सं० १७८० वाला अभी तक स्पष्ट नहीं पढ़ा गया है और जो कुछ पढ़ा गया है उसमें किसी दिगम्बर संघ या गच्छ का उल्लेख भी नहीं है। मूर्त्ति दिगम्बर हो और प्रतिष्ठा किसी तपागच्छीय यति ने करवाई हो तो इसके विषय में श्वेतांबरों की उदारता ही कारण है जो ऊपर लिखी जा चुकी है।

सं० १८१७ लिखित गुटके में भी खरतरगच्छ के नाम के साथ किसी दिगंबर संघ या

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

गच्छ का उल्लेख नहीं है। उसके लिखनेवाले उपाध्याय नन्दलाल के शिष्य हर्षचन्द्र के शिष्य नरसिंह भी श्वेतांबर खरतरगच्छ में ही हुए हैं जिसके कतिपय प्रमाण नीचे दिये जाते हैं :—

(१) उपाध्याय नन्दलाल खरतरगच्छीय क्षेमकीर्तिशाखा के सुप्रसिद्ध सत्रहवीं शताब्दी के महोपाध्याय सहजकीर्ति जी के शिष्य वा० सहजहर्ष के शिष्य रत्नसुन्दरजी के शिष्य थे[१] उनका दीक्षा नाम नेमरंग जी था।

(२) खरतरगच्छ के श्रीपूज्यजीके दफ्तर में, वा०सहजहर्ष के शिष्य रत्नसुन्दर जी के गृहस्थावस्था का नाम राजसी और दीक्षा सं० १७४१ पोष सु० ७ गुरौ साचोर में जिनचंद्र सूरि जी ने दी थी, नन्दलाल[२] (नेमिरंग) की दीक्षा सं० १७५६ माघ सुदि ५ सोजत में हुई थी एवं जिस नरसिंह का प्रस्तुत गुटका लिखा हुआ है उनकी दीक्षा सं० १८०७ जेठ सुदि ३ जेसलमेर में जिनलाभसूरि द्वारा हुई और नेमिदत्त नाम रखा गया था, लिखा है :—

सं० १८१७ में नरसिंह यति ने ढाका शहर में चतुर्मास किया था। उस समय अग्रवाल इच्छाराम के पठनार्थ गुटका लिख दिया गया होगा। परन्तु इससे उनका काष्ठासंघ से सम्बन्ध होना प्रमाणित नहीं हो सकता। यतियों ने तो दिगम्बर क्या? जैनेतरों के लिये भी कई ग्रंथ लिखे व रचे हैं। इसी प्रकार आदिपुराण सुनाने से भी खरतरगच्छीय नरसिंह मुनि का दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्ध न हो कर इच्छाराम के उनके भक्त होने और यतिजी की उदारता ही प्रकट होती है। वे दिगम्बर ग्रन्थों और दिगम्बर क्रियाकाण्डों से परिचित अवश्य होंगे, क्योंकि जहां जैनेतरों के शास्त्रों का भी पठन-पाठन का अभ्यास रखा जाता था, वहां अपने ही दिगम्बर जैनों के ग्रन्थ पढ़ें उसमें आश्चर्य ही क्या है? श्वेताम्बर मुनियों ने तो दिगम्बर ग्रन्थों को मनन कर उन पर टीकाएं भी रची हैं जिन में से कुछ टीकाओं के नाम हमें ज्ञात हैं, वे नीचे लिखे जाते हैं:—

१ अष्टसहस्रीटीका—यशोविजय उ० कृत

२ पद्मनंदिकृतपार्श्वजिनअष्टकटीका—मुनिशेखरसूरिकृत

---

१ इनका परिचय हमारे लिखित 'युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि' ग्रन्थ के पृ० २०६ व पृ० ३१३ में दिया गया है।

२ इनके रचित १ 'श्रृङ्गारवैराग्यतरंगिणीवृत्ति' (सं० १७८५ आगरा) मुद्रित। २ 'चौदह गुणस्थान विवरण' (सं० १७८८ वै० सु० ३ कासमपुर) ३ 'अष्टाह्निकाव्याख्यान' (सं० १७८६ फागुण सुदि ५), ४ 'सिद्धान्तरत्नवार्ता' आदि पद व्याख्या, ये चार ग्रन्थ बीकानेर के खरतरगच्छीय ज्ञानभाण्डारों में उपलब्ध हैं।

१ परमश्रुतप्रभावकमंडल आदि श्वेताम्बर संस्थाओं ने दिगम्बर समाज के कई ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। मंडल के तो प्रकाशित मुख्यतः सभी ग्रन्थ दि० ही हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

३ समयसारबालावबोध—खरतर रूपचंद्र कृत
४ द्रव्यसंग्रहबालावबोध—पायचंद्र गच्छीय रामचन्द्रकृत (मुद्रित)
५ नयचक्रसामान्यवचनिका—खरतरगच्छीय रचित (सं० १७२६ फा० सु० १०)
६ ज्ञानार्णव ढालभाषाबंध—खरतरगच्छीय श्रीमद् देवचंद्जी (मुद्रित)
७ द्रव्यसंग्रहवाला—खरतरहंसराज कृत
८ परमात्मप्रकाश चौ०—खरतर धर्ममन्दिर कृत

बाबू कामता प्रसाद जी ने अपने लेख के अन्त में इस दिशा में अधिक खोज कर प्रकाश डालने को लिखा था अतः यथासाध्य खोज-शोध करके इस विषय में विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न प्रस्तुत लेख में किया गया है, आशा है श्रीयुत ताराचंद्र जी रपरिया एवं बाबू कामता प्रसाद जी आदि को इसमें अच्छा नवीन ज्ञातव्य मिलेगा।

सं० नोट—नाहटा जी ने जो उपर्युक्त प्रकार हमारे तपागच्छीय विषयक टिप्पणी पर प्रकाश डाला है, उसके लिये हम आभारी हैं। यह बात तो हम भी अपनी टिप्पणी में प्रकट कर चुके हैं कि मूल में तपागच्छादि का उल्लेख श्वेतांबर संघ में मिलता है; परंतु उनका उल्लेख दिगंबरीय काष्ठासंघ के साथ भी हुआ है। नाहटा जी इसे श्वेतांबर यतियों का अनुग्रह प्रकट करते हैं और बताते हैं कि काष्ठासंघ शब्द दिगंबरमतानुयायी श्रावक से सम्बन्ध रखता है; किंतु यह उनका अनुमान मात्र है। क्योंकि यदि उक्त लेख में वह शब्द श्रावक से संबंध रखता है तो उसके साथ ही विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ तपागच्छ शब्द भी उसी से संबंध रखना चाहिये। ये दोनों विशेषण भट्टारक श्रीविजयरत्नकेश्वर के नाम के बाद आये हैं और हम इन दोनों का संबंध भट्टारक से ही समझते हैं। उस पर आपने जिन शिलालेखों के आधार से भ० विजयरत्नकेश्वर को श्वेतांबरीय सिद्ध किया है उन सब में भट्टारक का नाम 'विजयरत्नसूरि' लिखा हुआ है। यह सिद्ध करना शेष है कि विजयरत्नकेश्वर और विजयरत्नसूरि एक ही व्यक्ति के नाम हैं। यदि थोड़ी देर के लिये उन्हें एक व्यक्ति और श्वेताम्बर मान भी लिया जाय तो क्या उक्त लेख के आधार से यह संभव नहीं है कि उपरांत वह दिगंबर संप्रदाय के काष्ठासंघ में सम्मिलित हुए हों और उन्होंने अपने गच्छ का नाम 'तपा' ही रक्खा हो? यह भी कुछ जी को नहीं लगता कि 'तपा' शब्द को दिगंबरी व्यवहृत ही न करें—भाषा पर किसी का सर्वाधिकार रहा हो यह कभी सुना नहीं गया। दिगंबर जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा श्वेतांबर यतियों ने की हो, यह बात भी नई है। दिगंबर मंदिरों में हमारे देखने में ऐसी कोई दिगंबर मूर्ति नहीं आई जो किसी श्वेतांबर यति-द्वारा प्रतिष्ठित हुई हो। अतः दिल्ली की दिगंबर मूर्ति पर के लेख में जो 'तपागच्छ' शब्द पढ़ा गया है उसे निरा श्वेतांबरीय नहीं कहा जा सकता। अभी इस विषय में और भी खोज होने की आवश्यकता है। —का० प्र०

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हस्तसंजीवनम्

(लेखक—श्रीयुत बाबू त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए०)

'हस्तसंजीवनम्' सामुद्रिक विद्यासंबंधी एक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ है। फलित ज्योतिष की भी चर्चा इस में है। इसके रचयिता हैं महोपाध्याय मेघविजयगणी। कदाचित् पहले पहल मोहनलाल जी ने ग्रन्थमाला नं० ८ में इसे प्रकाशित किया।* कुछ ही दिन हुए काशी से भी हिन्दी टीका के साथ यह प्रकाशित हुआ है। इसके प्रकाशक हैं श्रीगणेशदत्त ज्योतिषी। हमारे सामने अभी ज्योतिषी-द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ वर्त्तमान है।

सामुद्रिकशास्त्र भारत की अपनी चीज है और यहीं से यह विदेशों में गया। इस बात की चर्चा यूरोप के प्रसिद्ध सामुद्रिक शास्त्रज्ञ 'कैरो' ने भी अपने ग्रन्थ में की है। किसी समय इस देश में इस विद्या का काफी प्रचार था और इस विषय की अच्छी-अच्छी पुस्तकें उपलब्ध थीं। इस समय तो अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों का केवल नाम ही सुनने को मिलता है। कई ग्रन्थ पुस्तकालयों में पड़े-पड़े सड़ रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में उक्त ग्रन्थ से सामुद्रिकशास्त्र के इतिहास पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है।

ज्योतिषी जी को उक्त ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति एक योगिराज से मिली थी। यह प्रति यत्र-तत्र कुछ नष्ट हो गई थी। अन्य कई प्रतियों से मिलाकर तब इसे प्रकाश में लाया गया है। हिन्दी टीका होने से यह सबों के लिए बोधगम्य हो गया है।

इसके रचयिता मेघविजयगणी के संबंध में अभी निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। मेघविजय नाम के कई ग्रंथकर्त्ता हो गये हैं। हस्तसंजीवन के रचयिता मेघविजय के संबंध में मोहनलाल दलीपचंद देसाई ने अपने 'जैन साहित्यनो इतिहास' में लिखा है कि ये विजयप्रभ-सूरि के समय में वर्तमान थे और इन्होंने ५२५ श्लोकों वाला 'हस्तसंजीवनम्' नामक सामुद्रिक विषय का ग्रंथ लिखा। इसी इतिहास ग्रंथ के अनुसार विजयप्रभसूरि ने सं० १७०८ में 'लोकप्रकाश' नामक ग्रंथ रचा।† इससे सिद्ध होता है कि मेघविजय १७०८ में या उसके आसपास वर्तमान थे। इन्हें यशोविजय युग के अन्तर्गत माना गया है। यशोविजय ने सम्वत् १७४३ में स्वर्गगमन किया।‡ इस प्रकार मेघविजय सं० १७४३ के पहले तो अवश्य

*देखो मोहनलाल दलीपचन्द देसाई कृत 'जैनसाहित्यनो इतिहास' (गुजराती) पृ० ६२४

†देखो 'जैनसाहित्यनो इतिहास' पृ० ६४८

‡देखो 'जैनसाहित्यनो इतिहास' पृ० ६२८

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वर्तमान थे। स्वयं मेघविजय ने अपने भाष्य में उदाहरण के लिए १७३७ संवत् पेश किया है। यथा दर्शनाधिकार के भाष्य में—

"तिथ्यादिना फलविचारे भाष्यम्—अत्र सुखासुखावबोधाय किंचिद्भाष्यम्। संवत् १७३७ वर्षे आषाढ़सितद्वितीयातिथौ भृगुवासरे पुष्यनक्षत्रे दिनोदयात्सप्तघटीसमये…………… …… ।" इत्यादि। पृ० ५२

स्पर्शनाधिकार के भाष्य में लिखा है—"अत्रोदाहरणं यथा सम्वत् १७३७ वर्षे प्रमोद-संवत्सरे सुभिक्षनिर्णयाय यथाविधि कुमार्याः………… ।" इत्यादि।

तथा—"अथ स्वरज्ञाने भाष्यम्—यथोदाहरणे १६३७ आषाढ़सितद्वितीयायाः सप्तघटी समये करेक्षणे…………।" इत्यादि—

ऊपर हम देख चुके हैं ग्रन्थकार बारबार एक ही संवत् का उदाहरण पेश करते हैं। प्रायः ग्रन्थकर्त्ता एक ही उदाहरण को लेकर उसी पर भिन्न-भिन्न युक्तियों को सिद्ध करते हैं। इसलिए एक ही संवत् के बारबार पेश किये जाने पर आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए। लेकिन हाँ, ग्रन्थकर्त्ता बहुधा किसी बहुत ही परिचित वस्तु को ही उदाहरण में पेश करते हैं; और यह संभव है कि ग्रन्थकर्त्ता ने ग्रन्थ निर्माण का संवत् ही उदाहरण में पेश किया हो। यदि हम यह ठीक माने तो यह निश्चित हुआ कि हस्तसंजीवन का निर्माण १७३७ संवत् में हुआ।

अब, एक तो यह निश्चित है कि सं० १७०८ और १७४३ के मध्य में मेघविजयगणी अवश्य वर्तमान थे। और दूसरी बात यह कि सन् १७३७ में उन्होंने 'हस्तसंजीवनम्' का निर्माण किया। यदि हम यह माने कि उन्होंने पौढ़ावस्था में उक्त ग्रंथ का निर्माण किया होगा, और ग्रंथ-निर्माण के बाद भी कुछ वर्षों तक जीवित रहे होंगे, तो उनका समय सं० १६८५ और १७५० के बीच में रक्खा जा सकता है।

ग्रंथकर्त्ता जैन सम्प्रदाय के आचार्य थे, यह बात उनके मंगलाचरण से स्पष्ट होती है। यथा—

श्रीसंखेश्वरपार्श्वं प्रणम्य ध्यायंस्तमेव जिनवृषभम्।
हस्तप्रशस्तलक्षणपरीक्षणे दक्षतां वक्ष्ये॥
श्रीनाभेयः प्रभुर्जीयात्सर्वज्ञो जगदीश्वरः।
येन लाक्षणिकी विद्या निर्दिष्टा भुवनश्रियै॥
श्रीवर्धमानो जयतु सर्वज्ञानशिरोमणिः।
पंचहस्तोत्तरो वीरः सिद्धार्थनृपनन्दनः॥

उपर्युक्त श्लोकों से इनका जैन होना स्पष्ट है। अब ग्रन्थ के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जाता है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ग्रंथ तीन अधिकारों में विभक्त है—दर्शनाधिकार, स्पर्शनाधिकार और रेखाविमर्शनाधिकार। दर्शनाधिकार में निम्नलिखित १५ अधिकार हैं—

शास्त्रपीठिका, ध्यानन्यासविधि, नाममालिका, हस्तावलोकनविधि, तिथिदर्शनाधिकार, वारदर्शनाधिकार, नक्षत्रदर्शनाधिकार, वर्षदर्शनाधिकार, मासदर्शनाधिकार, पक्षतिथिदर्शनाधिकार, वारयोगदर्शनाधिकार, मुहूर्त्तदशाद्रेष्काणदर्शनाधिकार, लाभदिग्दर्शनाधिकार, देहचक्रचन्द्रचक्रदर्शनाधिकार, मुष्टिप्रश्नाधिकार।

स्पर्शनाधिकार में निम्नलिखित ११ अधिकार हैं—

शुभाशुभेष्टकालज्ञानयोः अधिकार, प्रभवादिसंवत्सरफलाधिकार, नष्टवस्तुज्ञानाधिकार, निधिप्रश्नाधिकार, गर्भस्वप्नभोजनाधिकार, स्वरज्ञानाधिकार, भौमाधिकार, लक्षणाधिकार, उत्पाताधिकार, शकुनाधिकार।

रेखाविमर्शनाधिकार में भी कई अध्याय हैं, जिनमें अलग-अलग रेखाओं का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ में केवल हस्तरेखा के ही संबंध में विचार नहीं किया गया है, बल्कि ज्योतिष के संबंध में भी प्रकाश डाला गया है, जैसा कि ऊपर स्पष्ट है।

ग्रंथ में जिन अन्य ग्रंथों के उद्धरण दिये गये हैं, उनके नाम ये हैं—विवेकविलास, प्रकरण, शैव-सामुद्रिक, भोजसामुद्रिक, इत्यादि। इनमें प्रकरण को छोड़ सभी ग्रंथ संस्कृत के हैं। प्रकरण प्राकृत में है। इनके अतिरिक्त जातक आदि ग्रंथों से भी सहायता ली जाने का अनुमान होता है। जैनसामुद्रिक नामक एक ग्रन्थ का भी उल्लेख है। ग्रन्थ में जहां तहां मतान्तर तथा प्रकारान्तर का भी उल्लेख है, पर इस संबंध में कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। संभव है वे प्रचलित नियमों तथा मतों के अधार पर दिये गये हों। जैसे दर्शनाधिकारान्तर्गत मासदर्शनाधिकार में कहा गया है—

रेखा कामदुघा ज्ञेया वाच्यं लक्षणशिक्षितैः।
तर्जन्यां च कनिष्ठायां प्राप्तो मासस्तु नो शुभः॥
शेषस्थाने शुभोऽङ्गुष्ठे रणप्रश्नेऽतिभंगदः।
तर्जन्यां जयदः सोऽपि तालस्थः क्वापि नो शुभः॥
लक्ष्म्यां स्थितो धनकरो मेरुस्थः पददायकः॥

अब इसका प्रकारान्तर इस प्रकार बतलाया गया है—

यद्वा माघाद्यो मासा द्वादशापि लघोः क्रमात्।
दिनोदयात्पंचघटीमानं पाणीक्षणावधि॥
यो मासः प्राप्यते तस्मिन्स्थानलक्षणवीक्षणात्।
मासे शुभाशुभं वाच्यमित्युक्तं ज्ञानिभिः पुरा॥ (पृ० ३९)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अब यह प्रकारान्तर मतान्तर का स्वरूप है या वैकल्पिक है, यह नहीं ज्ञात होता। संभवतः वैकल्पिक ही है, अन्यथा मतान्तर का जिक्र अवश्य होता। किंतु जहाँ मतान्तर है, वहाँ उक्त मत किसका है या किस ग्रन्थ से लिया गया है, इसका जिक्र नहीं है। शायद ग्रन्थकर्ता ने इसके देने की आवश्यकता नहीं समझी। क्योंकि अन्यत्र यह बात स्पष्ट कर दी गई है।

ग्रन्थ ५०० अनुष्टुपश्लोकों में सम्पूर्ण है। यह बात इस श्लोक से विदित होती है—

अनुष्टुभां सपादोऽत्र ज्ञेयः पंचशतो ध्रुवम्।
ग्रन्थे सतां प्रसादाच्च श्रेयः श्रीरस्तु शास्वती॥

प्रत्येक अधिकार में श्लोक संख्या इस प्रकार है—

दशनाधिकार	१५७
स्पर्शनाधिकार	१०७
रेखा विमर्शनाधिकार	२३८
	५०२

इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से उद्धरण स्वरूप जो श्लोक दिये गए हैं, उन्हें भी यदि जोड़ दिया जाय तो सब की संख्या करीब ५२५ तक पहुंच जायगी।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

बारकूरु

(एक सुप्राचीन जैन राजधानी का ध्वंसावशेष)

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री]

यह निर्विवाद सिद्ध बात है कि इतिहास-संसार के समक्ष जब तक जैन समाज एक विश्वस्त, गवेषणापूर्ण, गंभीर एवं महत्त्वशाली प्रामाणिक विस्तृत इतिहास का प्रणयन कर नहीं रक्खेगा तब तक वह जैनधर्म का वास्तविक गौरव प्रकट करने में समर्थ नहीं हो सकता। बड़े-खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे धनाढ्य जैनसमाज का लक्ष्य अभी तक इस ओर बिल्कुल नहीं गया है। जैनसमाज का सर्वप्रथम पुनीत कर्त्तव्य यही है कि एक सुदृढ़ सुन्दर 'जैन-पुरातत्त्व-मन्दिर' खोलें। इसके द्वारा जैनसमाज का बहुत कुछ हित होगा। इसी को सुशीतल छत्रछाया में बैठ कर अन्वेषक विद्वान् जैनधर्म का अपूर्व एवं बहुमूल्य गत वैभव ढूंढ़ निकालेंगे। यही भावी जैनसन्तान का पथप्रदर्शक होगा। अपने पूर्वजों के असीम ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, प्रतिष्ठा, प्रभुत्व आदि से परिचित हो कर भावी जैनसन्तान की छाती फूल उठेगी और वह अधिक स्फूर्ति एवं उत्साह के साथ उनके गुणों के अनुकरण के लिये लालायित हो उठेंगी। इसका सुमधुर फल यही होगा कि थोड़े ही काल में किसी कारण से ढका हुआ जैनसमाजरूपी भास्कर पूर्ववत् प्रखर प्रताप से फिर देदीप्यमान होने लगेगा। साथ ही साथ वह अपनी गत प्रतिष्ठा आदि को सहज ही में फिर पालेगा। इस क्षीणशक्ति-सम्पन्न जैनसमाज के पुनरुत्थान के लिये सुवर्णपर्पटी एवं मकरध्वज जैसे बहुमूल्य रसायन की परमावश्यकता है। उक्त 'पुरातत्त्व-मन्दिर' में कर्मठ, उत्साही एवं विशेषज्ञ जैन विद्वानों को रख कर इनके द्वारा सर्वप्रथम निम्नलिखित कार्यों को करना होगा।

(१) बृहद्ग्रन्थ-सूची (२) मन्दिर-सूची (३) शिलालेख एवं ताम्रलेखों की सूची (४) ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह (५)प्रतिमालेख-संग्रह आदि। उस में एक विशाल पुस्तकालय एवं संग्रहालय का होना भी अनिवार्य है। साथ ही साथ 'भास्कर' जैसे एक उच्चकोटि के पुरातत्त्व पत्र का होना भी परमावश्यक है। हां, इन सब आयोजनों का अंगभूत एक सुन्दर ग्रन्थमाला का प्रकाशन भी परमोपयोगी होगा। इसका सम्पादन अन्यान्य विषयों में निष्णात धुरन्धर विद्वानों के द्वारा ही नये ढङ्ग से होना आवश्यक होगा। अस्तु, मैं अपना हार्दिक उद्गार प्रकटित कर शीघ्रातिशीघ्र इस की पूर्ति की भावना करता हुआ अब प्रस्तुत विषय पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करता हूं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

'बारकूरु' मंगलूर (Mangalore) से ५४ मील की दूरी पर उत्तर दिशा में अवस्थित है। उडुपि (Udipi) से यह केवल ९ मील पर है। उडुपि से ब्रह्मावर तक दर्शक कुन्दापुर जानेवाली सर्विस बस से जा सकते हैं। वहां से बारकुरु सिर्फ ३ मील दूर पर है। पर ब्रह्मावर से अब दर्शकों को पैदल ही जाना पड़ता है। यह स्थान सीता नदी के पुनीत तट पर वर्तमान है। यहां से समुद्र ३ मील की दूरी पर है। पूर्व में सीता नदी के द्वारा बड़े-बड़े जहाज यहां तक विना रोक-टोक आजाया करते थे। उस जमाने में अरब के मुसलमान अपने देश की चीजों को यहां लाकर बेंचते थे और यहां की चीजों को अपने देश में ले जाया करते थे। उस युग में इसी बारकूर ने दक्षिण कन्नड का केन्द्र बन कर अरब, फारस आदि विदेशों के साथ अपना व्यापारिक सम्बन्ध सुदृढ़ बना रक्खा था।

यों पीछे यह बारकूरु होयसल, विजयनगर, इक्केरि आदि राजवंश के शासन के भी अन्तर्भुक्त रहा। किन्तु सर्वप्रथम यह जैनशासकों की राजधानी के ही रूप में रहा। इसके आदिम जैनशासक भूताल पाण्ड्य था। यह भूताल पाण्ड्य मधुरा के सुप्रख्यात पाण्ड्य वंश के वंशजों में रहा। भूतालपाण्ड्य ने वहां से यहां आकर अपने बाहुबल से ही राज्य स्थापित किया था। यह बात प्रथम शताब्दी की है। उस समय यह बारकूरु 'जयन्तिका' नगर के नाम से विख्यात था। प्राचीन काल में 'जयन्तिका' उसी को कहते थे जिस में जनता के चार लाख घर हों। उस युग में इस की न केवल भारत में ही ख्याति रही; किन्तु सुदूरस्थ देशों में भी। विदेशी लेखकों ने भी बारकूर की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। वास्तव में उस काल में बारकुरु उन्नति के सर्वोच्च शिखरपर पहुंचा हुआ था। इसके लिये यहाँ पर आज भी प्राप्य नष्टावशिष्ट किला, खाई, देवालय, मानस्तंभ, शिलामण्डप, मूर्तियाँ, सरोवर एवं मठ आदि प्राचीन स्मारक ही उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। बारकुर में शिलालेखों की इतनी भरमार है कि सहज में उसकी तायदाद नहीं लगाई जा सकती। आजकल बचे-खुचे वहाँ के निवासी उन शिलालेखों का अपनी गृहस्थी की आवश्यक चीजों में ही उपयोग कर रहे हैं। दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि जिस समय मैं अभी हाल में बारकुर इस ऐतिहासिक क्षेत्र को देखने गया उस समय इन शिलालेख आदि प्राचीन स्मारकों का प्रदर्शन के लिये मुझे गृहस्थों के आंगन एवं गोशाला तक का चक्कर लगाना पड़ा था। सचमुच जौहरी ही रत्नों की यथार्थ परख कर सकता है। साधारण जनता के लिये ये रत्न काच से भी गये गुजरे से हैं। क्या धर्मायतनादि स्थापित कर शिलालेखों के द्वारा अपनी कीर्ति को अमर रखने के इच्छुक हमारे बारकुर के भव्य पूर्वजों ने इन चीजों की इस प्रकार की दुर्दशा एवं उपेक्षा कभी स्वप्न में भी सोची होगी? कभी नहीं। प्राचीन महत्त्वशाली गत वैभव को प्रकट करनेवाली इधर-उधर विखरी हुई इन पुरातत्त्व-सम्बन्धी चीजों को देख हृदय विदीर्ण हो जाता है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इस सुन्दर तथा प्रख्यात राजधानी को तहस-नहस करने का अमर श्रेय इक्केरि राजवंशज वेङ्कप्पनायक (सन् १५८१—१६१९) को प्राप्त है। इसने गेरुसोप्पे की जैनशासिका भैरव-रानी से चिढ़ कर इन्हें युद्ध में मार डाला और इनकी राजधानी को निर्दयता से जलवा डाला। वेङ्कप्पनायक के अमानुषिक हृदय को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। साथ ही साथ उसने भैरव रानी के अधीनस्थ दूसरे बारकूरु नगर को भी जलवा डाला एवं शहर को लूट खसोट कर बोरान बना दिया। सुनने में आता है कि उसने वहाँ एक भी जैनवंश को रहने नहीं दिया। साम्प्रदायिकता का समुज्ज्वल निदर्शन यही कहा जा सकता है। इसी का परिणाम है कि आज बारकूर में खोजने पर भी एक जैनी नहीं मिलता। परमतासहिष्णु इस वेङ्कप्पनायक के शासन-काल में ही बहुत से जैनी निरुपाय हो बारकूरु छोड़ कर कार्कल मूडबिदुरे, वेणूर आदि स्थानों में जा बसे। विद्वानों का कहना है कि वेंकप्पनायक ने ही बारकूर में अवस्थित मन्दिर, मानस्तम्भ, विग्रह एवं गोपुर आदि जैनधर्म के स्थानों को नष्ट करवा और इन जैन मन्दिर आदि के सामानों से ही उसने शिवालय एवं मठ आदि अपने धर्ममन्दिरों को बनवा डाला। वेंकप्पनायक कट्टर शिवोपासक रहा इसी से वह जैनधर्म को नष्ट-भ्रष्ट करने को तुल गया। बारकूर को ध्वंसविध्वंस करने का कुछ श्रेय पोर्तुगीजों के वायसराय (Viceroy) सम्पायो (सन् १५२८) को भी मिलना चाहिये। सन् १४९८ में पोर्तुगीज लोग इस जिले में व्यापारार्थ आकर विजय नगर के इक्केरि-शासकों के साथ शर्त्त लगा कर यहाँ के पालयगारों सामन्त राजाओं से प्रतिवर्ष कर लेते थे एवं योग्य स्थानों में व्यापार के लिये बड़ी-बड़ी कोठियां बनवा ली थीं। साथ ही साथ यहाँ के स्वतन्त्र लघुशासकों के साथ उनकी यह शर्त्त थी कि अपने से अतिरिक्त दूसरे किसी व्यापारी को इस जिला के समुद्र-तटों पर व्यापार नहीं करने देंगे। सन् १५२८ में विजयनगर के तत्कालीन शासकों के अधीनस्थ बारकूर के शासक ने अपने यहां से चावल कल्लिकोटे (Calicut) लेजाकर बेंचने और वहां से काली मिर्च (Black peppe) बारकूर लाने की आज्ञा अपने यहां के नाविकों को दे दी। इस से चिढ़ कर सम्पायों ने एक नौ-सेना स्वयं बारकूर लाकर इस नगर को जला डाला।

इतिहास मर्मज्ञों का कहना है कि पाण्ड्य-वंशज सुन्दर पाण्ड्य (गुणपाण्ड्य) पल्लव-वंशज महेन्द्रवर्मा (सिंहवर्मा), होयसलवंशज विष्णुवर्द्धन, कलचूरि वंशज बिज्जाल, इक्केरि-वंशज वेंकप्पनायक आदि कट्टर स्वधर्मपक्षपाती एवं धर्मान्ध शासकों के साम्प्रदायिकतानुराग से ही दक्षिण में क्रमशः जैनधर्म क्षीण होता गया। इनके इस कार्य में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, बसवण्ण जैसे मतप्रवर्त्तक ज्ञानसंबन्दर अप्पर जैसे साधुओं से पर्याप्त सहायता मिली। 'पेरियपुराण' नामक शैवसाधुओं के जीवन-सम्बन्धी ग्रन्थ में

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

एतद्विषयक बहुत सी कथायें पाई जाती हैं। इन कथाओं का अधिकांश भाग कल्पनापूर्ण है, किन्तु उनमें भी ऐतिहासिक तथ्य यत्र-तत्र छिपा हुआ है। मधुरा के मीनाक्षी-मन्दिर के मण्डप की दीवाल की चित्रकारी में जैनियों पर शैवों और वैष्णवों द्वारा किये गये अत्याचारों की कथा अङ्कित है। ये सब बातें इतिहास-विख्यात हैं, इसलिए इन सब बातों को प्रमाण-पुष्ट करनेकी जरूरत नहीं है। पर यहां पर एक बात का उल्लेख कर देना अनुचित नहीं होगा। वह यह है कि जैनियों ने अपने धर्म की प्रगति के लिये किसी भी समय किसी धर्म पर किसी प्रकार का अत्याचार किया हो यह कहीं दृष्टिगोचर नहीं होतो। और वास्तव में यह जैनधर्म के लिये एक गौरव की बात है। अगर ऐसा अत्याचार जैनी किये होते तो यह जैनधर्म के लिये अमिट कलंक ही नहीं था, प्रत्युत जैनसिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल था। अस्तु, बारकूर पर किये गये सम्पायों एवं वेंकप्पनायक के अमानुषिक अत्याचारों से जैनधर्म का केन्द्र, जैन-शासकों के अतुल ऐश्वर्य का साक्षी, विश्वविख्यात बारकूर नगर पश्चिम भारत-सम्बन्धी प्रमुख नगरों की तालिका से अलग कर दिया गया। यह तो हुआ सुप्राचीन जैनराजधानी बार-कूर का पूर्व इतिहास। अब विज्ञपाठकों का ध्यान वहांके वर्तमान ध्वंसावशेष की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं।

यहां की प्रधान केरि (सड़कें) ये हैं:—(१) कोटेकेरि (२) मणिगारकेरि (३) चौलि केरि (४) मूडुकेरि (५) भण्डारकेरि (६)होसकेरि। मैं सर्वप्रथम मूडुकेरि से ही यहां का दिग्दर्शन कराऊंगा। बारकूर की पूर्व दिशा में यह केरि अवस्थित है, इसलिये ही यह इस नाम से प्रसिद्ध है। इस में क्रमशः एक सुन्दर कलापूर्ण शिलामण्डप, विश्वकर्मावंशज का कालिकाम्बा देवस्थान एवं एक विशाल सुरम्य सरोवर कुछ कुछ दूर मिलते हैं। इस सरोवर की ईशान दिशा में अवस्थित गोपाल कृष्ण देवस्थान तथा इसी के पश्चिम भाग में विराजमान सोमनाथेश्वर मन्दिर ये दोनों इस केरि की दर्शनीय वस्तु हैं। खास कर सोम-नाथ देवालय कला की दृष्टि से भी देखने योग्य है।

यह देवस्थान सबका सब शिला-निर्मित है। स्तंभ एवं गोपुरादि भागों में चित्रकारी की झलक दृष्टिगोचर होती है। यहां से कुछ ही दूर पर उत्तर दिशा में एक छोटा सा महिषासुर देवस्थान है। कहा जाता है कि यही देव सोमनाथमन्दिर का प्रधान रक्षक है। यहीं से मणिगारकेरि की पूर्व दिशा में स्थित नष्टावशिष्ट किला पर जाना सुगम होता है। यह किला एक ऊंचे टीले पर है। किले के बहुत से हिस्से आज भी मौजूद हैं। सुनने में आता है कि जब यह जिला विजय नगर साम्राज्य के अधीन था, तब इस किला का निर्माण तत्कालीन विजयनगर के शासक हरिहर राय ने कराया था। मेरा अनुमान है कि पूर्व से ही यहां किला मौजूद था, उक्त हरिहर राय ने केवल इसका जिर्णोद्धार ही कराया होगा। क्योंकि वास्तवमें

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

यह स्थान किला एवं राजप्रसाद के लिये सर्वथा उपयुक्त है। अतः सर्वथा संभव है कि पूर्व से ही यहां के शासकों ने इसी स्थान को राजप्रासाद के लिये पसन्द किया होगा। इस किला के चारों ओर खाई है। इसके पास ही जीर्ण-शीर्ण रूप में वर्त्तमान एक विशाल सरोवर से ही उस जमाने में इस खाई में जल लाया जाता था। इस सरोवर का नाम 'अरसुकेरे'—राजा का सरोवर है। किला का विस्तार लगभग दो एकड़ होगा। इस के भीतर आज भी कई कूंए, एक छोटा-सा सुन्दर गभीर सरोवर एवं अनेक शिलामय स्तम्भ आदि अवस्थित हैं। कुछ व्यक्तियों का अनुमान है कि इसी किला के अन्दर सेना रहती थी और हाथी घोड़ा आदि इन्हीं शिलास्तम्भों में बाँधे जाते थे। इसके प्रतिकूल कतिपय व्यक्तियों का मत है कि ये स्तम्भ गजशाला एवं अश्वशाला के खूंटे न हो कर नाज-घर (अन्नराशि भाण्डार) के हैं। जो कुछ हो; किला के बाहर पूर्व एवं दक्षिण दिशा में विशाल मैदान है, जिस में प्राचीन नगर के चिह्न-स्वरूप अनेक मकानों की नीव नजर आती हैं। किले के अन्दर राजमहल के लुप्तप्राय चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। इस की पूर्व दिशा में एक ऊंची जगह दीख पड़ती है। बहुत कुछ संभव है कि यही राजदरबार का स्थल हो। जिस समय हम लोग वहां खड़े-खड़े बारकूर के गत वैभव को अपने कल्पना-साम्राज्य में अङ्कित कर आनन्द-सागर में गोते लगा रहे थे उस समय को हार्दिक उत्कण्ठा को एक भुक्तभोगी ही अनुभव कर सकता है। सचमुच उस समय मेरे रोंगटे खड़े हो गये एवं आंखें गलदश्रुपूर्ण हो गयीं। जिस भावुक के हृदय में भारतीय आदर्श संस्कृति की अमिट छाप है उसका हृदय द्रवीभूत होजाना सर्वथा स्वाभाविक है। तात्काल ही मेरे नेत्रों के सामने इस जिले के जैनसमाज के प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों के सजीव चित्र एक साथ खिंच गये। अस्तु, किले की उत्तर दिशा में थोड़ी ही दूर पर अवस्थित पूर्वोक्त 'अरसुकेरे' की बगल से ही हो कर चौलिकेरि में जाने पर वहां का विशाल एवं मनमोहक जलपूर्ण स्वच्छ सरोवर दृष्टिगत होता है। यहां के सभी सरोवरों में यह तालाव बड़ा ही चित्ताकर्षक तथा विस्तृत है। इस का स्वच्छ जल भी अधिक सुस्वादु प्रतीत हुआ। इसका पानी मीलों दूर तक कृषि की सिंचाई के लिये कृषकगण ले जाते हैं। यह सरोवर अपनी इतनी लम्बी आयु काट कर भी अच्छी दशा में मौजूद है। इसी को नैऋत्य दिशा में एक गणपति देवस्थान है जो कि शिला-निर्मित और दर्शनीय है।

यहां से मणिगारकेरि होकर ही लौटना पड़ता है। इस केरि को पूर्व दिशा में सड़क की बगल में एक विशाल मैदान देखने को मिलता है। इसमें इस समय भी पाषाणनिर्मित तीन सुन्दर जैनमन्दिर उपलब्ध होते हैं। इनमें से एक 'कत्तले बस्ति' (अन्धकारपूर्ण) के नाम से मशहूर है। इन में बीच के मन्दिर में चौबीस तीर्थङ्करों की प्रतिमायें विराजमान थीं यह साफ मालूम पड़ता है। पर अब इन मंदिरों में एक भी जिनमूर्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

संभव है कि कुछ मूर्तियों को सरकारी पुरातत्त्व-विभाग के कर्मचारी उठा ले गये हों। क्योंकि उन मूर्तियों की देख-भाल करनेवाला एक भी जैनी अब बारकूर में नहीं रह गया है। यहां के अन्य स्थानों के समान ही यहां पर भी अनेक शिलालेख यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। कुछ तो एकदम भूगर्भ में छिपे हुए हैं। सुनने में आता है कि यहां के कई शिलालेखों की नकल मद्रास सरकार के पुरातत्त्व-विभाग (Archeological Department) के अधिकारी कराकर ले गये हैं। जैनमन्दिरों के सामने एक सुन्दर मानस्तंभ भी मौजूद है। मन्दिरों के द्वार उत्तराभिमुख हैं। इन मन्दिरों की बगल में इस समय एक ईश्वरदेवस्थान भी अवस्थित है। ज्ञात होता है कि पहले यह जैनमन्दिर रहा पीछे इसी में हिंदुओं ने अपनी साम्प्रदायिक मूर्ति स्थापित कर दी। इसमें कोई संदेह की बात नहीं है; क्योंकि जब किसी जाति का प्रताप कुंठित हो जाता है तब दूसरी जाति अपनी विजित जाति की सम्पत्ति पर अधिकार जमा लेती है। इसके लिये इतिहास में एक दो नहीं, असंख्य दृष्टान्त मिलेंगे। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के पुरातत्त्वों के अनुशीलन से आप को ऐसे सैकड़ों देवमंदिर मिलेंगे जोकि पहले जैनियों की संपत्ति थे अब हिंदुओं के हो गये। बल्कि वे आज भी हिंदुओं के ही अधीन हैं। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि अब उन स्थानोंपर एकदम जैनी है ही नहीं, यदि हैं भी भी तो निर्जीव से। उक्त मणिगारकेरि में अन्यत्र स्थित सिद्धेश्वरदेवस्थान और सरोवर भी सुन्दर हैं। यह देवस्थान प्राचीन ढङ्ग का है। किम्वदन्ती है कि इसी स्थान पर सिद्धरस का कूआ भी विद्यमान था।

यहां की कोटेकेरि में जाते ही हमें सर्वप्रथम 'सिंहासन' मिलता है। इस समय तो यहां पर सिंहासन का कोई चिह्न नजर नहीं आता। पर जनश्रुति है कि पूर्व में यहीं पर राजसिंहासन एवं किला रहे हैं। संभव है कि कुछ समय तक यहीं पर राजभवन एवं किला अवस्थित हो इसी से इस स्थान का नाम सिंहासन तथा रास्ते का नाम कोटेकेरि पड़ गया हो। किंतु राजमहल के लिये पूर्वोक्त स्थान उपयुक्त मानने में किसी को मतभेद नहीं हो सकता है। यह अनुमान लगाना भी निर्मूल नहीं कहा जा सकता है कि इसी स्थान पर वर्तमान पार्वतीदेवस्थान में ही यहां के हिन्दू शासकों का पट्टाभिषेक होता रहा हो और इसी कारण इस नाम की प्रसिद्धि हो गयी हो। यों तो यहां के निवासियों से बल्कि खास कर पुजारियों से इस बारकूर के महत्त्व को बढ़ाने के लिये ही गढ़ी गयी बहुत सी दन्तकथायें श्रुतिगोचर होती हैं। मगर उन में ऐतिहासिक तथ्यता नजर नहीं आती। अस्तु इसी केरि में कुछ दूर जाने पर दर्शकों को क्रमशः पञ्चलिंगेश्वर, महालिंगेश्वर और बट्टे विनायक नामक देवमन्दिर देखने को मिलते हैं। इनमें पंचलिंगेश्वर मन्दिर बड़ा विशाल है। कला की दृष्टि से भी यह अवलोकनीय है। भण्डारकेरि आदि यहां की शेष सड़कें इतना उल्लेखनीय नहीं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

यहां के कई मंदिरों को आज भी मद्रास सरकार की ओर से यथाव्यय किसी को आठ सौ, छः सौ, पांच सौ रुपयों को वार्षिक साहाय्य मिल रहा है। बारकूर में इस समय एक गिरिजाघर, दो मस्जिदें, दो मिडिल स्कूल—एक बालक और दूसरा बालिका के हैं। यहां की जनसंख्या लगभग चार हजार की और गृह-संख्या तीन सौ की है। बारकूर की मुख्य फसलें ईख, धान, सुपारी और नारियल हैं। चावल, गुड़ और नारियल बाहर भी जाते हैं। वर्तमान समय में यह नगर हनेहल्लि, कच्चूरु, होसाल एवं हेराडि इन चार ग्रामों में विभक्त है। बारकूर की चौहद्दी क्रमशः पूर्व में हनेहल्लि, दक्षिण और पश्चिम में सीता नदी और उत्तर में हेराडि ग्राम हैं।

अन्त में मैं 'नवयुग' के सम्पादक श्रीयुत के० के० शेट्टि उडुपि एवं बारकूर के ही निवासी बो० गोपालकृष्ण कामत और आपही के अग्रज के सौजन्य को मैं कभी नहीं भूल सकता। वास्तव में आप तीनों बड़े ही उत्साही कार्यपटु नवयुवक ही नहीं, बल्कि भारतीय प्राचीन संस्कृति के एकान्त उपासक हैं। श्रीयुत बी० गोपालकृष्णजीने मुझे प्रत्येक स्थान को बड़े परिश्रम और प्रेम से दिखलाया। आप दोनों भाइयों का अतिथि-सत्कार भी आदर्श एवं अनुकरणीय रहा। मैं १६ नवम्बर १९३७ को कभी विस्मृत नहीं कर सकता, जिस दिन मुझे इस सुप्राचीन जैनराजधानी का ध्वंसावशेष दर्शन करने का सुवर्णावसर मिला।

Ac. Gunratnasuri MS   Jin Gun Aradhak Trust

विविध विषय

दिगम्बर जैन संघ में भेदों की उत्पत्ति

[१]

यूं तो जैन संघ में व्यवस्था की सुविधा के लिये गणभेद का अस्तित्व उसके जन्म के साथ रहा है। अन्तिम तीर्थङ्कर भ० महावीर जी के विषय में कहा गया है कि उनके ग्यारह गणधर थे जो सात गणों की सार-संभाल करते थे। श्रवणबेलूगोल के शिलालेख नं० २५४ (१०५) में इनके नाम (१) पूर्वविज्ञ (२) वादी (३) अवधिज्ञ (४) धीपर्यायज्ञ (५) वैक्रियक (६) शिक्षक (७) और केवलज्ञानी दिये हैं[१] जो प्रत्येक गण में रहनेवाले मुनियों के गुण-विशेष की अपेक्षा है। बौद्ध ग्रन्थों में भी भ० महावीर को संघ और गण का आचार्य लिखा है[२] जिससे उनका संघ और उसके गण होना स्पष्ट है। किन्तु सवाल यह है कि दिगम्बर जैन संघ में संघ या गणभेद का जन्म कब हुआ? यह तो स्पष्ट है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु जी के समय से जैन संघ दो धाराओं में बंट चला था और अन्ततः वह दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदायों में पृथक्-पृथक् हो गया।[३] दिगम्बरों ने अपने को 'मूलसंघ' का अनुयायी घोषित किया अर्थात् उस प्राचीन संघ को जो पाटलिपुत्र से श्रीभद्रबाहु जी के नतृत्व में दक्षिण भारत को गया था। 'श्रुतावतारकथा' से पता चलता है कि मूलसंघ अथवा दिगम्बर जैन संघ श्रीअर्हद्बलि आचार्य के समय में नन्दि, देव, सेन, सिंह और भद्र नाम के उपसंघो में विभक्त हो गया था। यह भेद मात्र व्यवस्था की दृष्टि से किया गया था—इन में परस्पर कोई सिद्धान्त भेद नहीं था। जैन पट्टावलियों में भी यही बात कही गयी है[४]। साथ ही श्रवणबेलगोल के उपरोक्त शिलालेख (नं० १०५) में भी इस व्याख्या को दुहराया गया है। किन्तु वहीं के शिलालेख नं० १०८ (२५८) में लिखा है कि अकलंक स्वामी के स्वर्गवास के पश्चात् संघ देशभेद से 'सेन' 'नदि' 'देव' और 'सिंह'—इन चार भेदों में विभक्त हुआ

---

१ इपीग्रेफिया कर्नाटिका, भा० २, पृ० १०१

२ "संघी चेऽव गणी च गणाचरियो च ञातो यसास्सी तित्थकरो साधु सम्मतो बहुजनस्स रत्तञ्ञू चिरपब्बजितो अद्धगतो वयो अनुपत्तो।"—दीघनिकाय भाग १, पृष्ठ ४७–४९ व सुत्त-निपात ३ पृ० ९१

३ संजैइ०, भा० २, खंड १ व २

४ इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, भा० २०, पृ० ३४१

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

था[१]। श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार प्रकट करते हैं कि 'अकलंक से पहले के साहित्य में इन चार प्रकार के संघों का कोई उल्लेख भी अभी तक देखने में नहीं आया, जिस से इस (शि० नं० १०८ के) कथन के सत्य होने की संभावना पाई जाती है।'[२] संभव है कि मुख्तार साहिब का यह अनुमान ठीक हो, परन्तु शिलालेखीय साक्षी से तो दि० जैन संघ में गणादि-भेदों का होना अकलंक स्वामी से पहले का प्रमाणित होता है। पहले तो उपर्युक्त दोनों शिलालेखों को लीजिये। उनमें शि० नं० १०५ का समय सन् १३९८ है और शि० नं० १०८ सन् १४३२ का है, अर्थात् नं० १०५ वाला शिलालेख प्राचीन है और उससे ही मूल-संघ में श्रीअर्हद्बलि आचार्य के समय में संघभेद होना सिद्ध है। उस पर शिवमोग्ग जिले के नगर तालुके में होम्बुच्च नामक स्थान से मिले हुए कन्नड शिलालेख नं० ३५ (शक सं० ९९९) में लिखा है कि:—

"भद्रबाहुस्वामिगलिन्द् इत्त कलिकालवर्त्तनेयिं गणभेदं पुट्टिदु .."

अर्थात्—भद्रबाहु स्वामी के बाद यहां कलिकाल का प्रवेश हुआ और गणभेद उत्पन्न हुआ। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि जैनों में नन्दि आदि गणभेद की उत्पत्ति अकलंक स्वामी से बहुत पहले हो चुकी थी। यही कारण है कि प्राचीन शिलालेखों में हमें जैन मुनियों के ऐसे नाम मिलते हैं जो 'नन्दि' विशेषण युक्त हैं। उदाहरण रूप में एक कुशनकालीन कौशांबी वाले लेख में जैनाचार्य का नाम शिवनंदी है[३]। ऐसे ही पहाड़पुर से प्राप्त ताम्रपत्र (५वीं शताब्दी) में गुहनन्दी नामक जैनाचार्य का उल्लेख है[४]। उधर श्रवणबेल्गोल के शिला-लेख नं० ७३ (५९ सन् १११८ ई०) में लिखा है कि "मूलसंघ का कोन्डकुन्दान्वय जैनमत में अति प्राचीन है[५]।" इससे भी यह ध्वनित होता है कि उस समय मूल संघ गण—अन्वयादि में बंट चुका था। वहीं के शिला लेख नं० १२७ (सन् १११५ ई०) में उल्लेख है कि मूलसंघ नन्दीगण में श्री पद्मनन्दि अपरनाम कोन्डकुन्द हुए। इसी लेख में देशीगण, पुस्तकगच्छ और वृषभ गण का भी उल्लेख है[६]। इन सब बातों को देखते हुए यह अनुमान होता है कि मूलसंघ में यद्यपि नन्दि आदि गणों अथवा उपसंघों की उत्पत्ति श्रीअर्हद्बलि आचार्य-द्वारा हो गई थी और जैनाचार्य का अपने-अपने गणानुकूल नामकरण भी होता था, परन्तु उस समय वे

१ इपी० कर्नाटिका, भा० २, पृ० ११६

२ रत्नकरण्डक० जीवनी० पृष्ठ १८१

३ संयुक्त प्रान्तीय जैन स्मारक पृ० २५

४ Modern Review, August 1931, P. 150

५ Epigraphia Carnatica, Vol. II P. 39. "Kondakunda line of the Mulasangha is the most ancient in the Jaina-creed."

६ Ibid. PP. 54-55.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

गण एक साथ ही गच्छ-बलि आदि में परिणत नहीं हुए थे और न उनके अपने मठ या गद्दियां ही स्थापित हुई थीं। किन्तु श्रीअकलङ्क स्वामी के समय तक उनका अच्छी तरह विकास हो चुकना संभव है और इसीलिये उनके पश्चात् उनका पुनःसंस्कार समुचित रूप में हुआ प्रतीत होता है जिस से वह एक संगठित रूप में आ गये। पट्टावलियों के अध्ययन से भी यही बात प्रकट होती है; क्योंकि उनमें किन्हीं प्राचीन आचार्यों की तो एक से अधिक भिन्न पट्टावलियों में गणना है, परन्तु उपरान्त के आचार्य प्रत्येक पट्टावली में अपने-अपने अलग हैं।

श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ८१, ९३ और ९७ (सन् ७०० ई०) में क्रमशः कित्तूरसंघ, केलत्तूर संघ और नविलूर संघ का उल्लेख है*। इस से भी स्पष्ट है कि उस समय देश-भेद अपेक्षा दिगम्बर जैन (मूल) संघ उपसंघों व गणों में बंट चुका था, परन्तु वह समुचित रीत्या नन्दि आदि संघरूप तबतक संगठित नहीं हो पाया था। यह संगठन अकलंक स्वामी के उपरांत होना संभव है। विद्वानों को इस विषय पर अपने विचार प्रकट करने चाहिये।

—का० प्र०

कोण्डकुन्दाचार्य और आचार्य उमास्वाति

[२]

यह बात सर्वमान्य है कि दिगम्बर जैनसंघ में श्री कोण्डकुन्दाचार्य और आचार्य उमास्वाति नामक दो भिन्न आचार्य हुए हैं; परन्तु श्रवणबेलगोल के निम्नलिखित शिलालेखों में श्रीकोण्डकुन्दाचार्य का ही अपर नाम उमास्वाति बताया गया है और उनका एक अन्य नाम गृद्धपिच्छाचार्य भी लिखा है। यथाः—

१. "श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा
ह्याचार्य्य-शब्दोत्तर-कोण्डकुन्दः।
द्वितीयं आसीद् अभिधानम् उद्यच्-
चरित्र-संजात-सुचारणर्द्धिः।
अभूद् उमास्वाति-मुनीश्वरोऽसाव
आचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।"

(शि० नं० १२७) सन् १११५

---

* Ibid., P. 41, 43&45. "...कित्तूरसंघस्य गगनस्य महस्पतिः......" —"......सथ्ममान् कोलत्तूर संघ... .."—"नमिलूरा सिरिसंघद् आजिगणदा राझीमत्ती—गन्तियार......।"

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

1. "………Padmanandi, also known as Konḍakunḍāchārya, who by his lofty character, acquired the power of moving in the air. 'He was likewise known as Umāsvāti-munisvara and Gridhrapinchhāchāraya.'

*Ep. Car., Vol II p. 51.**

२, "तस्यान्वये भू-विदिते वभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः
श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्य्य-शब्दोत्तरगृद्धपिच्छः"

—(शि० नं० ६४ सन् ११६३)

2. "In his world-renowned line arose Konḍakunḍa-muniśvara, who had at first the name Padmanandi, and who, through proper self-control, acquired the power of moving in the air. He was also known as Umāsvāti-muniśvara and Gridhrapinchh āchārya:"—

*Ep. Car., Vol. II P. 16.**

3. शिलालेख नं० ६६ (४२) सन् ११७६ ई० (*Ibid, P. 21*) नं० १२७ के अनुरूप।

किन्तु वहीं उपरान्त के शिलालेखों (यथा:—नं० २५४ सन् १३९८; नं० २५८ सन् १४३२) में कोण्ड कुन्दाचार्य को आचार्य उमास्वाति से भिन्न लिखा है। इस मतभेद का रहस्य क्या है? क्या कोई विद्वान् इस विषय को स्पष्ट करेगा? स्मरण रहे कोण्डकुन्दाचार्य ही का श्रुतिमधुर नाम कुन्दकुन्दाचार्य है। —का० प्र०

रियासत जयपुर में प्राचीन जैन स्थान

[३]

जैनियों में जयपुर जैनपुरी के नाम से प्रख्यात है और उसकी यह प्रख्याति है भी सार्थक। जयपुर अपने जन्म के साथ ही जैनियों का केन्द्र बन गया और जैन इतिहास में उसका खास स्थान है। आज भी वहां ५२ विशाल जिनमंदिर, ६८ जिनचैत्यालय और १२ नशियायें जैनत्व के जीवित स्मारकरूप विद्यमान हैं। रियासत जयपुर की राजधानी यही नगर है। इसका विशेष परिचय किसी अन्य लेख में पाठकों को अर्पण किया जायगा। इन पंक्तियों में रियासत जयपुर के उन प्राचीन स्थानों का सामान्य परिचय देना अभीष्ट है

---

* यह अंग्रेजी अनुवाद म० म० रा० ब० स्व० आर० नरसिंहाचार्य जी का किया हुआ है। उनकी विद्वत्ता में शङ्का नहीं की जा सकती। इसलिये अनुवाद में गलती होना संभव नहीं जंचता।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जिनमें जैन कीर्तियां उपलब्ध हैं। हमें यह प्रकट करते हुये हर्ष है कि श्रीमान् महाराजाधिरोज जयपुर ने अपने राज्य में भो पुरातत्त्वान्वेषण का पुनीत कार्य प्रारम्भ कर दिया है और उसके डायरेक्टर प्रखर विद्वान् रा० ब० श्रीदयाराम जी साहनी, एम० ए०, सी० आई० ई० साहब हैं। आपने रियासत के प्राचीन स्थानों का निरीक्षण किया है और बैराट नामक स्थान की खुदाई कराई है। अपने इस कार्य का विवरण आपने पुस्तकाकार (Archaeological Remains & Excavations at Bairat) प्रकट कराया है, जो संग्रहणीय है[१]। इस पुस्तक एवं 'दिगम्बर जैन डायरेक्टरी' के देखने से रियासत जयपुर के निम्नलिखित स्थानों पर जैन कीर्तियों का पता चलता है। हम इन पुस्तकों के आधार से ही सधन्यवाद उनका परिचय उपस्थित करते हैं :—

आम्बेर—जयपुर से लगभग ५ मील पूर्वोत्तर पहाड़ी के किनारे अवस्थित है। यह ईस्वी १० वीं व ११ वीं शताब्दी में अस्तित्व में आया था और एक समय जयपुर राज्य की राजधानी था। यद्यपि वहाँ अब कोई भी जैनी नहीं है परन्तु जैनों के प्राबल्य को प्रकट करने वाले नशियां सहित ८ बड़े जिन मंदिर वहां विद्यमान हैं[२]। जयपुर म्यूजियम में एक १६ पंक्तियों का (नं० १९५१) लेख मौजूद है, जो आम्बेर के श्रीसंघवी झुंटा राय के जैनमंदिर से लाया गया था। उससे प्रकट है कि वह मंदिर फाल्गुण कृष्ण १० बुधवार विक्रम सम्वत् १७१४ में बनायो गया था। उसमें आम्बेर को अम्बावतो लिखा है, जो ढूंढ़ाहढ़ देश की सुन्दर और हरी भरी समृद्धिशालो राजधानी थो। इस नगर में सरदारों के बड़े-बड़े महल और स्वर्णकलश मण्डित ऊंचे-ऊंचे जिन मंदिर थे। उस ससय महाराज जयसिंह यहां के राजा थे। उक्त मंदिर को तीर्थेश्वर विमलनाथ के मूलनायकत्व में खंडेलवाल जातीय मोहनदास जी ने बनवाया था, जो महाराज जयसिंह के प्रधान मंत्री और अम्बावती के शासक थे। यह मंदिर उन्होंने भट्टारक देवेन्द्रकीर्त्ति के उपदेशानुसार बनवाया था[३]। इसके अतिरिक्त आम्बेर में कई अजैन कीर्तियां भी दर्शनोय हैं।

आलिनपुर—सवाई माधोपुर से करीब २ मील पर यह अतिशय क्षेत्र है, जिसको 'चमत्कारजी' भी कहते हैं। बस्ती में एक बड़ा भारी जैन मंदिर है और बाहर एक नशियां जी हैं। कहते हैं विक्रम सम्वत् १८९८ में एक स्फटिकमणिमयी जिनप्रतिमा बस्ती से वायव्यकोण में एक बगीचे में मिली थी, उस वक्त यहां पर केशर की वृष्टि हुई थी। इस अतिशय के

१ इस पुस्तक का मूल्य ॥) है जो डायरेक्टर आव आर्कालाजी, हवामहल, जयपुर से मिलती है।

२ दिग० जैन डायरेक्टरी (दि० डा०), पृष्ठ ४६४–४६५

३ Archo: Remains & Excavations at Bairat, P. ४

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कारण यह मंदिर 'चमत्कारजी' के नाम से प्रसिद्ध है[१]। उपरान्त यह मूर्त्ति खंडित हो जाने के कारण भंडार में अलग रख दी गई है। यदि उस मूर्त्ति पर का लेख पढ़ा जाय तो विशेष विवरण ज्ञात हो। क्या ही अच्छा हो कि खंडित मूर्तियां भंडारे (?) या जलप्रवाह न कर के एक केन्द्रीय स्थान पर विराजमान कर दी जायँ।

चाटसू—जयपुर से २५ मील दूर अवस्थित है। यहां शिवडूंगरी नामक पर्वत पर एक प्राचीन जैन मंदिर है। बस्ती में भी एक जैन मंदिर है जिसमें तीर्थङ्करों की विशालकाय मूर्तियां संवत् १३१६ से १६८० तक की प्रतिष्ठित विराजमान हैं। शिवडूंगरी वाले जैन मंदिर में जितने भी नागरी लेख हैं उनकी नकल साहनी सा० ने कर ली है। वहाँ के दो स्तंभ जयपुर म्यूजियम में लाकर रक्खे गए हैं इनमें से एक सफेद संगमरमर का स्तंभ उल्लेखनीय है, जिस पर भद्रबाहु स्वामी से लेकर ९५ जैन गुरुओं की मूतियाँ अङ्कित हैं। इस पर जो लेख खुदा हुआ है उससे विदित होता है कि संवत् १७०६ में जब महाराज श्रीजयसिंह का राज्य प्रवर्तता था और श्रीदेवेन्द्रकीर्ति पट्टाचार्य थे तब यह पट्टावलीस्तंभ चम्पावती नगर के निकट अवस्थित डूंगरी नामक स्थान पर बने हुये श्रीनेमिनाथ जी के मंदिर में स्थापित किया गया था[२]। उपलब्ध दिगम्बर पट्टावलियों से यह स्तम्भपट्टावली प्राचीन है। यह स्तंभ अपने ढंग का अनूठा है। यदि संभव हुआ तो इसका सचित्र परिचय आगामी किरण में प्रकट किया जायगा।

चांदनगांव—(श्रीमहावीर स्वामी) अतिशय क्षेत्र बहुत प्रसिद्ध है। यहां का प्राचीन विशाल जैन मंदिर और उसमें विराजमान दीर्घकाय जिनमूर्तियां दर्शनीय हैं। उन पर अङ्कित लेख इतिहास के लिये महत्व की वस्तु है।

बैराट—जयपुर से ५२ मील है। यह प्राचीन विराट नगर है। यहाँ पर श्री साहनी महोदय ने खुदाई कराई है जिसमें बहुत-सी प्राचीन कीर्तियां उपलब्ध हुई हैं। इस पर हम एक स्वतन्त्र लेख प्रकट करने वाले हैं।

सवाई माधोपुर—भी जैनियों का मुख्य स्थान है। यहाँ ७ जिनमंदिर और एक पुराना चैत्यालय है। मंदिरों में करीब १५०० धर्मशास्त्र ग्रन्थ हस्तलिखित हैं। इसके पास ही 'रणतंभोर' नामक किले के भग्नावशेष हैं, जिस में एक जैनियों का पुराना मठ (मंदिर) भी है। इस मठ में चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर की एक मूर्ति (सफेद) संवत् १० (?) की एक फीट ऊंची बताई जाती है। राज्य से इस मंदिर की पूजा के लिये २५) सालाना मिलता है[३]।

---

१ Arch: Remains & Ex: at Bairat, PP. 5—7,

२ दि० जैन डायरेक्टरी, पृष्ठ ५१७—५१८

३ दि० डा०, पृष्ठ ४६५

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

साँगानेर—में अनेक प्राचीन हिन्दू कीर्तियां हैं। कई प्राचीन जिनमंदिर भी हैं, जिनमें 'संघीजोका मंदिर' प्राचीन दर्शनीय है।

उपर्युल्लिखित प्राचीन स्थानों पर जाकर यदि कोई विद्वान् खोज करे तो बहुत-कुछ ऐतिहासिक सामिग्री उपलब्ध हो सकती है। —का० प्र०

'अष्टशाखा' उपजाति

[४]

यों तो कहने को जैनियों में ८४ भिन्न जातियाँ बताईं जाती हैं; परंतु अस्तित्व में उनकी संख्या सैकड़ों की है। उन्हीं जातियों में एक जाति 'अष्टशाखा' नामक थी। इसका उल्लेख जसवन्त नगर के एक मूर्तिलेख (नं० ३७) में हुआ मिला था और इसके विषय में हमने अपने "प्राचीन जैन लेख संग्रह" (वर्धा, १९२६) में लिखा था कि "आजकल जैनियों में कोई जाति इस नाम की मालूम नहीं होती।" किन्तु श्रीयुत पं० सुरेशचन्द्र जी शास्त्री हमारे इस लेख पर आपत्ति करते हैं। उनका कहना है कि अष्टशाखा जाति के लोग आजकल के परवार जैनी हैं, जिनमें 'आठ-शाके' (गोत्र वा मूर) प्रचलित हैं। उधर पं० परमेष्ठीदास जी ने देवगढ़ के एक लेख में भी अष्टशाखा जाति का उल्लेख पाया है। और उन्होंने अनुमान किया है कि वह परवारों में 'अष्टशाखा' नाम की एक स्वतंत्र जाति रही हो। परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अष्टशाखा जाति ही परवार थी। बहुत कुछ संभव तो यह है कि परवार और अष्टशाखा नामक दो स्वतंत्र उपजातियाँ रही हों, जो उपरांत किसी कारणवश आपस में मिल गई हों। परवार जाति की उत्पत्ति और इतिहास का पता जब तक ठीक-ठीक नहीं मालूम होता तब तक कुछ भी निश्चितरूप में नहीं कहा जा सकता। अच्छा हो, पं० सुरेशचंद्र जी एवं अन्य परवार जातीय विद्वान् मध्यप्रांत के जैनमंदिरों में विराजमान मूर्तियों, यंत्रों और ग्रन्थों के प्रशस्ति-लेखों का संग्रह प्रकाशित करें। उनके आधार से ही सच्चा इतिहास प्रकट होगा। —का० प्र०

कोपणतीर्थ की एक मूर्ति

[५]

निजाम हैदराबाद के राज्य में कोपण नामक एक प्राचीन जैनस्थान है। पूर्वकाल में यह स्थान जैनियों में एक पूजनीय तीर्थ माना जाता था। वहां एक खेत खोदते हुए एक प्राचीन जिनमूर्ति उपलब्ध हुई थी, जिसमें चौबीस तीर्थङ्करों की प्रतिमायें बनी हुई थीं। अब वह

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मूर्ति नवाब सलारजंग के महल में सुरूर नगर हैदराबाद में विराजमान है। इस मूर्ति पर कन्नड लेख अंकित है वह निम्न प्रकार है:—

(१) स्वास्ति] श्रीमूलसंघदेसियगणद मादण-दंडनायक माडिसिद ब (सदि) गे रा—

(२) य—राजगुरु मण्डलाचार्यरप्प श्रीमद्-माघनन्दि-सिद्धान्त-चक्रवर्त्तीगल प्रि (य-गुड्डगलु) श्री-कोपण—

(३) तीर्थद एम्मेयर (प्रिथि) गौडन प्रियाङ्गने मलौव्वेगे पुट्टिद सुपुत्ररु बोपयण तम्......राज—

(४) लि—मुख्यवागि प (ल्ल) नोम्पिगेयु चौवीस-तीर्थंकर माडिसिकोट्टरु [मङ्गल महा-श्री श्री श्री ।

इसका भाव श्रीकृष्णम् चार्लु महाशय ने अंग्रेजी भाषा में यों बतलाया है* कि समृद्धि-शाली कोपणतीर्थ के निवासी एम्मेयर प्रिथि गौड और उनकी प्रियाङ्गना मलौव्वे के पुत्र बोपयण ने, जो प्रसिद्ध रायराजगुरु मण्डलाचार्य माघनन्दि-सिद्धांतचक्रवर्ती के प्रिय शिष्य थे, अनेक व्रतों के करने के अवसर पर यह चौवीस तीर्थङ्करों की मूर्ति बनवाई और उसे मादण-दंड-नायक द्वारा निर्मित मूलसंघ के देशीयगण वाली बसदि (मंदिर) को अर्पण की। मा० वर्द्धमान जी हेगड़े इस लेख में उल्लिखित श्रीमाघनन्दि स्वामी के विषय में एक पत्र-द्वारा हमें सूचित करते हैं कि 'वह जैन गुरु-परम्परा में प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। कवि महाबल (सन् १२५४ ई०) ने अपने 'नेमिनाथपुराण' में और कुमुदेन्दु (सन् १२७५ ई०) ने अपनी 'रामायण' में इनकी खूब प्रशंसा लिखी है। कवि कुमुदेन्दु ने उन्हें 'होयसल राय राजगुरु माघनन्दि मुनि' लिखा है और वह स्वयं कवि कुमुदेन्दु के गुरु थे। उन्हें 'सिद्धान्तत्रयचक्रेश्वरम्' तथा 'अवनत होय्सल राजमुकुटमणि-गण किरणम्' भी उन्होंने कहा है। श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ३३४ (सन् १२८२ ई०) में भी एक माघनन्दि मुनि का 'श्रीमन्महा-मण्डलाचार्यरं आचार्य-वर्यरुं होय्सलरायरोज गुरुगलुं' रूप में उल्लेख हुआ है। शायद ये दोनों माघनन्दि एक ही व्यक्ति हैं।' † मास्टर सा० का यह अनुमान बहुत कुछ संभवनीय है। कोपण-तीर्थ

* यह मूर्तिलेख पहले कनड़ी के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'जयकर्णाटक' में प्रकट हुआ था, परन्तु उपरान्त यह श्री चार्लु महाशय-द्वारा हैदराबाद आर्केलाजिकल सीरीज में प्रकाशित 'दो कन्नड इंस्क्रिप्शन्स आंव कोप्बल (पृ० ११)' नामक पुस्तक में शुद्धरीत्या प्रकट किया गया है। वहीं से हम सधन्यवाद इसे उद्धृत कर रहे हैं। चार्लु महाशय ने माघनन्दिजी के विषय में कुछ नहीं लिखा है।

† यह अनुमान मास्टर साहब का नहीं है बल्कि 'जयकर्नाटक' के मूललेखकों का है। मास्टर वर्द्धमान हेगडे केवल इसके हिन्दी अनुवादक हैं। —के० बी शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

के एक अन्य शिलालेख में भी एक माघनन्दि जी का उल्लेख हुआ है; जिसमें उन्हें 'गणदीपक' कहा है और उनकी गुरुपरम्परा निम्न प्रकार दी है,*—

सिंहनन्द्याचार्य—विच्चुकुण्ड की नागबसदि के कल्याणकीर्ति—इन्दोलि के रविचन्द्राचार्य—गुणसागर मुनिपति—गुणचन्द्रमुनीन्द्र—अभयनन्दि मुनीन्द्र—गणदीपक माघनन्दि।

यह शिलालेख चालुक्य राजा विक्रमादित्य पंचम (सन्० १००९-१०१७ के राज्यकाल का बताया जाता है। इसलिये यह माघनन्दि उपर्युक्त माघनन्दि से भिन्न प्रतीत होते हैं।

— का० प्र०

"बंगाल में जैनधर्म"

[६]

'भास्कर' ४र्थ भागकी तृतीय किरण के पृष्ठ १५५ पर लिखा है कि "बंगाल में प्राप्त प्रतिमाओं में से केवल एक श्वेताम्बरी प्रतिमा है।" बंगाल में जैनधर्म-सम्बन्धी अनुसंधान में कई वर्षों से कर रहा हूं तथा इस संबन्ध का एक विस्तृत लेख भी मैं लिख चुका हूं जो शीघ्र भास्कर में प्रकाशित होगा। पर मुझे अभी तक एक भी प्राचीन श्वेताम्बर प्रतिमा यहां नहीं मिली है। सन् १९३० के प्रकाशित एक चित्र में एक प्रतिमा को श्रीपार्श्वनाथजी की बताई गई थी, उसका आजानुलंबबाहु मस्तक पर सर्पफण और कायोत्सर्ग मुद्रा होने से ही जैन प्रतिमा एवं सवस्त्र होने से श्वेतांबर मान ली गई थी। पर मैं ने उस प्रतिमा को देखते ही कहा कि यह मूर्ति श्रीविष्णु की है और उस के आविष्कारक मुझ से इस पर सहमत भी हो गये।

पृष्ठ १५२ और १५४ पर "लाधा" (राढ़) और "राधा" लिखा गया है उस के स्थान में लाढ़ा लिखना चाहिये था। ‡ इस लेख के सम्बन्ध में और भी अनेक बातें लिखनी थी पर मेरे प्रकाशित होनेवाले लेखसे अनेक बातें स्पष्ट हो जायंगी इस से लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गयी।

—छोटेलाल जैन

श्रीमान् माननीय बा० छोटेलालजी एक प्रकृत जैनपुरातत्वान्वेषी हैं। पुरातत्त्व विषयक आपका विचार एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। तथा कथित आप के गवेषणापूर्ण लेख के कुछ पृष्ठ मैंने भी पढ़े हैं। वास्तव में आप का यह मौलिक लेख इतिहास संसार में एक नया प्रकाश डालेगा। आप का यह लेख एकाध महत्त्वपूर्ण चित्र के लिये ही अब तक भास्कर के पाठकों के सामने उपस्थित नहीं हो सका है; अन्यथा कबका प्रकाशित हो गया होता। मैं आशा करता हूं कि अब निकट भविष्य में ही यह लेख प्रकाशित हो जायेगा।—के० बी० शास्त्री

* The Kananada Inscriptions of Kopbal P. 9.

‡ इस शिलालेख में सिंहनन्द्याचार्य के समाधिमरण का उल्लेख है। उन्होंने 'इङ्गिणिमरण' एक मास में किया था। उस समय श्री सिंहनन्दि श्रमण—मतिसागर श्रमण—नरलोक-मित्र और ब्रह्म श्रमण ने उनकी वैयावृत्ति की थी। उसी अन्तराल में सामिकुमार ने जिनबिम्ब की पूजा की। कार्नू म० ने 'इङ्गिणि मरण' को एक स्थान समझा है; सो ठीक नहीं है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

राजावलि

(मैंनपुरी के प्राचीन गुटके परसे)

[७]

"अथ डीली स्थाने राजवली तोमरवंसे। संबतु ८२९ आदिराणाजाजू १ वाजू २ राजू ३ सीहउ ४ वाल्लू ५ ऊटरू ६ जैदरू ७ वत्थरू ८ पीयकु ९ रावलु वीगहपालु १० रावलु तोल्हणपालु ११ रावलु गोपालु १२ रावलु सलषणपालु १३ रावलु जसपालु १४ रावलु कुमारपालु १५ रावलु अणगुपालु १६ रावलु तेजपालु १७ राणा मदनपालु १८ राणा कृतपालु १९ राणा पृथीपालु २० एते राज कुली हुई संवत् १२१९ वर्षे तोमर राजान् पास ते चौहंसा वंसि रावलि वीससि राजुलिया १ अमरगाँगुउ २ रावलु पीयडु ३ रावलु सौमेश्वरु ४ रावलु चाहडु ५ रावलु नागधो ६ राज पृथीराज ७ इतने चौहण हुइ संम्वत् १२४९ वर्षे चतवदि २ तेजपालि दीली पृथीराज कै सेवकु वीसलपालु कै पुत्रु दिवाकरु वंधिलीयै॥ संवत् १२४९ वर्षे चैत्र सुदि १३ सुलतानु सहावदी गजनी ताहि आयौ वरस १४ राजु कीयै सं० १२६३ वर्षे सुलितानु कुतवदीनु राजु वरस ३ सं० १२६६ वर्षे सुलितानु समसदीनु राजु वरस २६ की यै। सं० १२९२ वर्षे सुलितानु पेरो साहि मास १ राजुकीयै संबत् १२९३ वर्षे सुलतानि नुरदीय बरस ३ सं० १२९६ वर्षे सुलितानि मोजदी वरसु ३ सं० १२९९ वर्षे सुलितानु अलावदी राजु कीयै। वरस २ संवतु १३०१ वर्षे सुलितानु नसीरदी राजवरस २१ संवतु १३२२ वर्षे। चैत्र वदि २ सोम दिने। सुलितानु ग्यासदी वलिवडु राज्यं वरस २१ संवतु १३४३ वर्षे फाल्गुण सुदि ९ सुक्र दिने सुलितानु मोऊदी बरस ३ राज्यं। संवत् १३४६ वर्षे फाल्गुन सुदि ६ रवि दिने सुलितानु समसदी बरिस २ मास १ दिन ६ राजं संवतु १३४७ वर्षे जेष्ठ सुदि ५ सोम दिने सुलितानु जलालदी बरस ६ म ३ दिन ११ राजं॥ संवतु १३५३ वर्षे श्रावण बदि ११ गुरु दिने सुलितानु रुकनदी मास ६ दिन १३ राजं॥ संबतु १३५३ माघ सुदि १० भौम दिने सुलितानु अलावदीनु वरस १९ मास ३ दिन १५ घटिका १५ राजं। संवतु १३७२ माघवदि ९ भौम दिने सुलितानु अलावदी कै पुत्र ल्हौडौ राणी छीतमदे कौ मास ६ दिन ८ घड़ी ६ राजं। संवत् १३७३ सवण सुदि २ भौम दिने सुलितानु कुतुवदी वरस ४ मास २ दिन १० घटिका १५ अस्य ऊपरे संवतु १३७७ वर्ष जेष्ठ सुदि २ सनिदिने सुलितानु षुसरो नामे नसीरदोनु मास ४ दिन ७ घटिका ११ राजं। सं० १३७७ वर्षे अस्वन सुदि १३ सुक्र दिने सुलितानु ग्यासदी वरस ४ मास १ दिन ३ धटिका ९ राजं। संवत् १३८२ वर्षे जेष्ठ सुदि १३ बुध दिने सुलितानु महमुद वरस २७ मास ३ दिन १४ घटिका १५ राजं। संबत् १४०८ वर्षे श्रावण सुदि ८ रवि दिने सुलितानु पेरोसाहि वरस ३७ मास ३ दिन ११ घटिका १३ राजं। सं० १४४५ वर्षे कातिक सुदि ४ सुक्र दिने सुलितानु तुगलक साहि राजं मास ५ दिन ३ घटिका ७ संवतु १४४६ वर्षे चैत्र सुदि ८ सुलितानु वुबुक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

साहि महमद साहि राज मास ६ दिन १५ घटिका ८ राजं। संवत् १४४७ वर्षे असुन सुदि ११ सोम दिने सुलितानु मल्लराजं वरस १ मास ७ दिन ७ घटिका ९ संवत १४४० वर्षे सुलितानु दौलतिष राज। संवत् १४७२ वर्षे पौष बदि ८ गुरु दिने सुलितानु षिदरिषानु। राजं वरस ७ मास १ दिन ३ घटिका ११ अस्य उपरे। सं० १४७९ वर्षे वैसाष सुदि ८ रवि दिने सुलितानु ममारष षातु। वरस ११ मास १ दिन २९ घटिका २४ राजं। संवतु १४९० वर्षे फाल्गुन ११ सुक्र दिने सुलितान मलमदसाहि राजं। बरस २ मास १ दिन ५ घटिका ७ राजं। संवतु १५०३ वर्षे आषाढ़ बदि २ गुरु दिने सुलितानु अलावदीनु। मास ३ दिन १० घटिका ९ राजं। संवत् १५०३ वर्षे अश्न सुदि ८ गुरु दिने सुलितानु अमानतिषानु। वरस ६ मास ३ दिन ८ घटिका १५ राजं। अस्य ऊपरे। संवत् ५०८ वर्षे वैसाष सुदि ३ सनि दिने सुलितान बहलोल साहि पठाणु राजंकृत। वरस ३८ मास २ दिन ८ घटिका १५ उपरे अस्य राजु संवतु १५४६ वर्षे असाढ सुदि १ गुरु दिने सुलितानु सिकंदर साहि राजं कृते।"

का० प्र०

"जैन एन्टीक्वेरी" के लेख

(दिसम्बर १९३७)

१—पृष्ठ ५७—६६ 'पोदनपुर और तक्षशिला' शीर्षक लेख में कामताप्रसादजी ने साहित्यिक साक्षी के आधार से प्रमाणित किया है कि तक्षशिला पोदनपुर से भिन्न पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में अवस्थित था, जब कि पौदनपुर दक्षिण भारत में गोदावरी के तट पर बसा हुआ था।

२—पृष्ठ ६७—७३ श्रीकालापद मित्र, एम० ए०, साहित्यकौस्तुभ ने श्वेताम्बर दिगम्बर जैन शास्त्रों के उद्धरण उपस्थित करके सम्यग्ज्ञान और चारित्र का महत्त्व दरसाया है। उपनिषद् में भी ज्ञान के साथ चारित्र का होना लाज़मी कहा गया है। कोरा ज्ञान कार्यकारी नहीं है।

३—पृष्ठ ७५-७९. जैनक्रानोलोजी में भ० शान्तिनाथ तक की घटनायें अङ्कित की गयी हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

साहित्य-समालोचना

स्तोत्र-मंत्र-सार-संग्रह

सम्पादक—सरस्वतीभूषण वि० लोकनाथ शास्त्री; प्रकाशिका—श्रीवीरवाणी विलास-ग्रन्थमाला, मूडबिदुरे; भाषा संस्कृत एवं कन्नड; पृष्ठ १९२; सन् १९३७; मूल्य ॥=); छपाई सफाई सुन्दर।

इसका नाम स्तोत्र-मंत्र-सार-संग्रह है। इसमें नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं में काम आने वाले सुप्रभात, ऋषिमण्डल आदि १२ स्तोत्र; समवसरण, अकलङ्क आदि ९ अष्टक; पम्प, रन्न, अग्गल, कमलभव आदि कन्नड कविप्रवरों के द्वारा रचित वृषभजिनस्तवनादि १२ स्तवन; सहस्रनाम, रत्नत्रय, कर्मदहन आदि १३ मन्त्रकोष; ४ शतनामावलियां एवं व्रतस्वरूप आदि ५५ विषय संगृहीत हैं। सम्पादक महोदय ने इनमें कई विषयों का भावार्थ भी दिया है। प्रारम्भ में श्रीमहावीर स्वामी का एक मनोज्ञ चित्र भी अङ्कित है। चित्र में शास्त्रानुकूल नासाग्र दृष्टि का न होना आदि एक दो बातें अवश्य खटकती हैं; फिर भी कला-प्रेमी चित्रकार का धर्मप्रेम एवं परिश्रम स्तुत्य है।

प्रस्तुत संग्रह उपयोगी है। संग्रह के प्रत्येक स्तोत्र-मन्त्र के कमसे कम कर्त्ता के नाम दे देने से अन्वेषकों के लिये अत्युपयोगी होता। यों तो कुछ के दिये भी हैं। अक्षरमालिका-स्तोत्र पूज्यपादकृत लिखा है। "सर्वज्ञ (?) पूज्यपादोदितेयं कृतिः श्रीमतां पाठकानाञ्च चिरं सम्पदे भवतु।" इस विचित्र छन्दोमय पद्य के आधार पर ही इसका कर्त्ता पूज्यपाद लिखा गया होगा। मगर पता नहीं कि यह सर्वज्ञ (?) पूज्यपाद कौन हैं। पृष्ठ नं० कन्नड में ही देना अच्छा था क्योंकि कन्नड लिपिमय ग्रन्थ में इसी की पृष्ठसंख्या चाहिये थी। शुद्धाशुद्ध तालिका के अतिरिक्त भी यत्र तत्र कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं; वे आगामी संस्करण में सुधारणीय हैं। इस संग्रह में शास्त्रीजी कई अप्रकाशित स्तोत्र-मन्त्रों को प्रकाश में लाये हैं, एतदर्थ आप धन्यावद के पात्र हैं। एक आस्तिक श्रावक के लिये नित्य-नैमित्तिकादि क्रियानुष्ठान में यह संग्रह परमोपयोगी है। अतः यह ग्रन्थ खास कर गृहस्थों के लिये आवश्य संग्रहणीय है।

—के० बी शास्त्री।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सट्ठी तमप्पहाए चरिमधरित्तीए होंति चत्तारि ।
एवं सेढीबद्धा पत्तेक्कं सत्तखोणीए ॥७९॥
६० । ४ ।

चउरूवाइं आदिं पचयपमाणं पि अट्ठरूवाइं ।
गच्छस्स य परिमाणं हवेदि एकोणपण्णासा ॥८०॥
४ । ८ । ४९ ।

पदवग्गं पदरहिदं चयगुणिदं पदहदादिजुदमद्धं ।
मुहदलपहदपदेणं संजुत्तं होदि संकलिदं ॥८१॥
रयणप्पहपहुदीसुं पुढवीसुं सव्वसेढिबद्धाणं ।
चउरुत्तरच्छस्सया णवयसहस्साणि परिमाणं ॥८२॥
९६०४ ।

पददलहिदलंसलिदं इच्छाए गुणियपचयसंजुत्तं ।
रूउणिच्छादियपदचयगुणिदं अवणि लद्धिदेआदी (?) ॥८३॥
पडलहदवेकपाहावहरिदसंकलिदवित्तपरिमाणो ।
वेकपदंदेण हिदं आदिं सोगेज्ज[1] तत्थ सेसचयं ॥८४॥
९६०४ ।

अपवर्तिते

४९ ।

अस्मिन् वेकपदंदेण हिदं आदि ।

४

२४

सोदेज्ज[2] शोधितशेषमिदं

४८

२४

अपवर्तिते

९ ॥८५॥

चयदलहदसंकलिदं चयदलरहिदादि अद्धकदिजुत्तं ।
मूलं पुरिमूलूणं पंचयद्धहिदमित्तं तु पदयथवा[3] ८६॥
४९ । ४८

२

1 सोघेज्ज (?); 2 सोघेज्ज (?); 3 पदमथवा (?) ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दुचयहदं संकलिदं चयदलवदणंतरस्स वग्गजुदं
मूलं पुरिमूलूणं चयभजिदं होदि तं तु पदं ॥८७॥
पत्तेइं रयणादी सव्वबिलाणं ठवेज्ज परिसंखं।
णियणियसेढिया इंदयरहिदा पइण्णया होंति ॥८८॥
उणतीसं लक्खाणं पंचाणउदीसहस्सपंचसया।
सगसट्ठीसंजुत्ता पइण्णया पढमपुढवीए ॥८९॥

२९९५५६७।

मूलूणं पूर्वमूले माणं

५२।

चयभजिदं

५२ =१।

चयदलहदसंकलिदं

४४२०।४।[1]

चयदलरहिदाहिदाहि

२८८।

अद्धं

१४४। १०७३६।

जुत्तं

३८४१६।४।

मूलं

१९६।

पुरि

२=

दु

२

चयद्दहदं[2] संकलिदं

४४२०। १६।

चय

८

1 Again चय... ४। in AB; 2 A चयदहदं।

द्

४

वदन

२६२

अंतरस्स

२८८

वग्गजुदं

३६२

मूलं इदं

३६२

पुरिमूल

२८८

चयभजिदं

१०४

पदं

१३ = ८ ।

चउवीसं लक्खाणि य सत्तणवदी सहस्सतिसयाणिं ।
पंचुत्तराणि होंति दु पइण्णयां विदियखोणीए ॥ ६० ॥

१०४ । २४६७३०५ ।

चोद्दसएं जाणि तहा अट्ठाणउदीसहस्सपंचसया ।
पंचदसेहिं जुत्ता पइण्णया तदियवसुहाए ॥ ६१ ॥

१४ ६८ ५१५ ।

णवलक्खा णवणउदीसहस्सया दोसयाणि तेणउदी ।
तुरिमाए बहुमइए पइण्णयाणं च परिमाणं ॥ ६२ ॥

६६६२६३ ।

दो लक्खाणि सहस्सा णवणउदी सगसयाणि पणुतीसं ।
पंचमवसुधायाए पइण्णया होंति णियमेण ॥ ६३ ॥

२ ६६७३५ ।

अट्ठासट्ठीहीणं लक्खं छट्ठीइ मेइणीए वि ।
अवणीए सत्तमिए पइण्णया णत्थि णियमेण ॥ ६४ ॥

६६६३२ ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तेसीदिलक्खाणिं णउदिसहस्साणि तिसयसगदालं।
छप्पुढवीणं मिलिदा सव्वे वि पइण्णया होंति ॥ ९५ ॥

८३९०३४७

संखेज्जमिंदयाणं रुंदं सेढी गदाण जोयणया।
तं होदि यसंखेज्जं पइण्णयाणुभयमस्स रूवं ॥९६॥

६ । २७ । ७७ ।

संखेज्जा वित्थारा णिरयाणं पंचमस्स परिमाणं।
सेस चउपंचभागा होंति असंखेज्जरुंदाइं ॥९७॥

८४००००० । १६८००० । ६७२००० ।

छपंचतिदुगलक्खा सट्ठिसहस्साणि तह य एक्कोणा।
वीससहस्सा एक्कट्ठय[1] णोदि सुसंखवित्थारा ॥९८॥

६००००० । ५००००० । ३००००० । २००००० ।
६०००० । १९९९९ । १ ।

चउवीसबीसबारसअट्ठपमाणाणि होंति लक्खाणि।
सयकदिहदचउवीसं सीदिसहस्सा[2] य चउहीणा ॥९९॥

२४००००० । २०००००० । १२००००० । ८००००० ।
२४०००० । ७९९९६ ।

चत्तारि रविय पदे होंति असंखेज्जजोयणा रुंदा।
रयणप्पहपहुदीए कमेण सव्वाण पुढवीणं ॥१००॥

४ ।

संखेज्जरुंदसंजुदणिरयबिलाणं जहण्णविच्चालं।
छक्कोसा तेरिच्छे उक्कस्से दुगुणिदो तेपि (?) ॥१०१॥

६ । १२ ।

णिरयबिलाणं होदि हु असंखरुंदाण अवरविच्चालं।
जोयण सत्तसहस्सा उक्कस्से तं असंखेज्ज ॥१०२॥

७००० ।

उत्तपइण्णयमज्झे होंति हु बहुवो असंखवित्थारो।
संखेज्जवासजुत्ता थोवा होप्पति (?) तिमिरजुत्ता ॥१०३॥

1 AB एक्कंट्ठय; 2 AB सादिसहस्सा ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सगसगपुढविगयाणं संखासंखेज्जरुंदरासिम्मि ।
इंदयसेढिविहीणे कमसो सेसो पइण्णए उभयं ॥१०४॥

५६६६ । ८७ । अ २३६५६८० ।

संखेज्जवासजुत्ते णिरयबिले होंति णारया जीवा ।
संखेज्जा णियमेणं इदरम्मि तहा असंखेज्ज ॥१०५॥
पणदालंलक्खाणिं पढमो चरिमिंदओ वि इगिलक्खं ।
उभयं सोहिय एक्कोणिंदयभजिदम्मि हाणिचयं ॥१०६॥

४५००००० । १००००० ।

छावट्ठिच्छस्सयाणिं इगिणउदिसहस्सजोयणाणिं पि ।
दुकलाओ तिविहत्ता परिमाणं हाणिवड्ढीए ॥१०७॥

९१६६६ । २ ।
३

बिदियादिसु इत्थं तोरूऊणिच्छाइ(?) गुणिदखयवड्ढी ।
सीमंता दो सेढी अ मेलिज्ज सुअवधिठाणं ॥१०८॥
रयणप्पहअवणीए सीमंतयइंदयस्स वित्थारो ।
पंचत्तालंजोयणलक्खाणिं होदि णियमेण ॥१०९॥

४५००००० ।

चोद्दालं लक्खाणिं तेसीदि सयाणि होंति तेत्तीसं ।
एक्ककला तिविहत्ता णिरइंदयरुंदपरिमाणं ॥११०॥

४४०८३३३ । १ ।
३

तेदालं लक्खाणं छस्सयसोलससहस्सच्छासट्ठी ।
दुतिभागो वित्थारा[1] रोरुगणामस्स णादव्वो ॥१११॥

४३१६६६६ । २ ।
३

पणुवीससहस्साधियजोयणबादाललक्खपरिमाणो ।
भंतिदयस्स भणिदो वित्थारो पढमपुढवीए ॥११२॥

४२२५००० ।

---

1 वित्थारो (?)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

एक्कतालंलक्खा तेत्तीससहस्सा तिसयतेत्तीसा।
एक्ककला तिविहत्ता उब्भंतयरुंदपरिमाणं ॥११३॥

४१३३३३३ । १ ।
३

चालीसं लक्खाणि इगिदालसहस्सच्छस्सयं होदि।
छावट्ठी दोण्णि कला तिविभत्ता वासोसभंतणामम्मि ॥११४॥

४०४१६६६ । २ ।
३

उणदालं लक्खाणि पणणाससहस्सजोयणाणि पि।
होदि असब्भंतिदयवित्थारो[1] पढमपुढवीए ॥११५॥

३९५०००० ।

अट्ठतीसं लक्खा अडवण्णसहस्सा तिसयतेत्तीसं।
एक्ककला तिविहत्ता वासो विब्भत्तणामम्मि ॥११६॥

३८५८३३३ । १ ।
३

सगतीसं लक्खाणि छासट्ठिसहस्सछसयछासट्ठी।
दोण्णि कला तियभजिदा[2] रुंदो तत्तिंदए[3] होदि ॥११७॥

३७६६६६६ । २ ।
३

छत्तीसं लक्खाणं जोयणया पंचहत्तरिसहस्सा।
तसिदिंदयस्स रुंदं णादव्वं पढमपढवीए ॥११८॥

३६७५०००

पणतीसं लक्खाणि तेसीदिसहस्सतिसयतेत्तीसा।
एक्ककला तिविहत्ता रुंदं वक्कंतणामम्मि ॥११९॥

३५८३३३३ । १ ।
३

चउतीसं[4] लक्खाणि इगिणउदिसहस्सछस्सयछासट्ठी।
दोण्णि कला तियभजिदा एस य वक्कंतणामम्मि ॥१२०॥

३४९१६६६ । २ ।
३

1 S असब्भंतिंदव ; 2 S तिपभजिदा ; 3 S तत्तिदए ; 4 S चौतीसं ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

चोत्तीसं लक्खाणि जोयणसंखा य पढमपुढवीए।
विक्कंतणामइयवित्थारो एत्थ णादव्वो ॥१२१॥

३४०००००।

तेत्तीसं लक्खाणि अट्ठसहस्साणि तिसयतेत्तीसा।
एक्ककलाठिदियाए[1] थणइंदयरुंदपरिमाणं[2] ॥१२२॥

३३०८३३३। १।
३

बत्तीसं लक्खाणि छस्सयसोलससहस्सछासट्ठी।
दोण्णि कला तिविहत्ता वासा तणइंदए होदि ॥१२३॥

३२१६६६६। २।
३

एक्कतीसं लक्खाणि पणुवीससहस्सजोयणाणि पि।
मणइंदयस्स रुंदं णादव्वं विदियपुढवीए ॥१२४॥

३१२५०००।

तीसं पिय लक्खाणि तेत्तीससहस्सतिसयतेत्तीसा।
एक्ककलाविदियाए वणइंदयरुंदपरिमाणा ॥१२५॥

३०३३३३३। १।
३

एक्कोणतीसलक्खा इगिदालसहस्सछस्सयछासट्ठी।
दोण्णि कला तिविहत्ता घादिंदयणामवित्थारो ॥१२६॥

२९४१६६६। २।
३

अट्ठावीसं लक्खा पण्णरससहस्सजोयणाणि पि।
संघातणामइंदयवित्थारो बिदियपुढवीए ॥१२७॥

२८५००००।

सत्तावीसं लक्खा अडवण्णसहस्सातिसयतेत्तीसा।
एक्ककला तिविहत्ता दिब्भिंदयरुंदपरिमाणं ॥१२८॥

२७५८३३३। १।
३

1 S ठिदियाए; 2 AB परिणामा।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

छव्वीसं लक्खाणिं छासट्ठिसहस्सछस्सयछासट्ठिं।
दोण्णि कला तिविहत्ता जिब्भगणामस्स वित्थारो ॥१२९॥

२६६६६६६ । २ ।
३

पणुवीसं लक्खाणिं जोयणया पंचसत्तरिसहस्सा।
लोलिंदयस्स रुंदो बिदियाए होदि पुढवीए ॥१३०॥

२५७५००० ।

चउवीसं लक्खाणिं तेसीदिसहस्सतिसयतेत्तीसा।
एक्ककला तिविहत्ता लोलगणामस्स वित्थारो ॥१३१॥

२४८३३३३ । १ ।
३

तेवीसं लक्खाणिं इगिणउदिसहस्सछसयछासट्ठी।
दोण्णि|कला तियभजिदा रुंदा थणलोलगे होंति ॥१३२॥

२३९१६६ । २ ।
३

तेवीसं लक्खाणिं जोयण संखाय तदियपुढवीए।
पढमिंदयम्मि वासो णादव्वो तत्तणामस्स ॥१३३॥

२३०००००।

बावीसं लक्खाणिं अट्ठसहस्साणि तिसयतेत्तीसं।
एक्ककला तिविहत्ता पुढवीए तसिदवित्थारो ॥१३४॥

२२८३३३ । १ ।
३

सोलसहस्सछस्सयछासट्ठी एक्कवीसलक्खाणि।
दोण्णि कला तदियाए[1] पुढवीए तवणवित्थारो ॥१३५॥

२११६६६६ । २ ।
३

पणवीससहस्साहियवीसदिलक्खाणि जोयणाणिं पि।
तदिए वि य खोणीए तावणणामस्स वित्थारो ॥१३६॥

२०२५००० ।

1 S तदियाव |

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust

मध्य भाग (परपृष्ठ ३, पंक्ति ३)

इत्थं श्रीपद्मनन्दिप्रवचनवदि (?) भिर्यन्त्रराजप्रवृत्तौ
वृद्धार्याराधितं यो विधिवदिह सदा पूजयन्त्यादरेण।
तैर्भव्यैर्धर्मनिष्ठैरमृतपदसुखं प्राप्तुमिच्छद्भिरारात्
ध्यानं निःश्रेयसाप्तौ त्रिभुवनमहिता प्राप्यते मोक्षलक्ष्मीः॥

× × × ×

अन्तिम भाग :—

यस्यार्थं क्रियते पूजा सुप्रीतो नित्यमस्तु ते।

ॐ ह्रीं रं रं रं रं ज्वालामालिनि ह्रां आं क्रों क्षीं ह्रीं क्लीं ब्लूं द्रां द्रीं ह्मल्वर्य्यूं ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रौं ह्रः ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल धग धग धूं धूं धूम्रांधकारिणि शीघ्रं यन्त्राधिपतये देवदत्तस्य सर्वग्रहोच्चाटनं कुरु कुरु हूं फट् नमः स्वाहा। मन्त्रपुष्पम्।

इस आराधना-विषयक ८ ह्रुक लेवर पुस्तिका में सर्वप्रथम चन्द्रप्रभ प्रतिबिम्ब का अभिषेक, भूमिशुद्धि, पंच-गुरुपूजा, चत्तारि अर्घ्य का विधान बतलाया गया है। इसके बाद चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर की पूजा उनकी स्तुति, श्याम यक्ष, ज्वालामालिनी यक्षी की पूजा एवं पंच-परमेष्ठी की पूजा दी गई हैं। आगे वज्रपंजरयन्त्र का फल, यन्त्र या यन्त्र की अधिष्ठात्री देवी ज्वालामालिनी और अष्टमातृका की पूजा निर्दिष्ट है। फिर यन्त्रस्थ प्रत्येक पिण्डान्तर्गत बीजाक्षरोंका आह्वान, स्थापन एवं अर्घ्यादि वर्णित है। अनन्तर ब्रह्म यक्ष, पद्मावती यक्षी की पूजा तथा अन्त में मन्त्रपुष्प का मन्त्र दिया गया है। यन्त्रका फल ग्रह, रोग, महामारी, चौरादि की शान्ति बतलायी गयी है।

इस में ग्रन्थकर्ता का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु मध्य भाग-गत श्लोक से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता श्री पद्मनन्दी हैं। मगर पता नहीं कि यह पद्मनन्दी कौन हैं। क्योंकि इस नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' नामक ग्रन्थ-तालिका में एक पद्मनन्दी (भट्टारक) वि० सं० १३६२ का उल्लेख मिलता है, साथ ही साथ उनकी कृतियों में 'आराधनासंग्रह' नामक एक आराधनाग्रन्थ का जिक्र भी उपलब्ध होता है। बहुत कुछ संभव है कि यही पद्मनन्दी भट्टारक इस 'वज्रपंजराराधनविधान' के रचयिता हों। मल्लिषेण और इन्द्रनन्दि के नाम से भी 'वज्रपञ्जराराधना पूजा' प्राप्त होती हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(२८) ग्रन्थ नं० २४२/ख

मृत्युंजयाराधना-विधान

कर्त्ता— ×

विषय—आराधना

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६। इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्रसंख्या ७

प्रारम्भिक भाग—

चन्द्रनाथश्रु तगणधरमृत्युञ्जययन्त्रमित्येतेषामभिषेकं कृत्वा भूमिशुद्धिचत्तार्यर्घ्यानन्तरं चन्द्रप्रभपूजा ।

चन्द्रपुराम्बुधिचन्द्रं चन्द्रार्कं चन्द्रकान्तसंकाशम् ।
चन्द्रप्रभजिनमंचे कुन्देन्दुस्फारकीर्तिकान्ताशान्तम् ॥
नानामणिप्रचयभासुरकण्ठपीठभृंगारनालकलितामलदिव्यतोयैः ।
संसारतापविनिवारणहेतुभूतं श्रीचन्द्रनाथपदपद्मयुगं यजेऽहम् ॥ (जलं नि०)
नाकाङ्गनाकरसरोरुहमध्यवर्तिकर्पूरकुंकुमविमिश्रितदिव्यगन्धैः ।
मुक्तोपमानवरगन्धरमासमेतं श्रीचन्द्रनाथपदपद्मयुगं यजेऽहम् ॥ (गन्धं नि०)

× × ×

मध्य भाग (परपृष्ठ ३, पंक्ति ७)—

यस्यार्थं क्रियते पूजा सुप्रीतो नित्यमस्तु ते
चन्द्रोज्ज्वलां चक्रशरासिपाशां वामत्रिशूलेषु झषासिहस्तां ।
श्रीज्वालिनीं सार्धधनुश्शतोच्चजिनानतां कोणगतां यजामि ॥

× × ×

अन्तिम भाग—

अत्यन्तभक्त्यानतदेवचन्द्रसूर्याभिवन्द्याग्रजिनेन्द्रभक्ताः ।
ब्रह्माणिकाद्या उररीकृतार्घ्या सर्वापमृत्युं विनिवारयन्त्यः ॥
ॐ ह्रीं क्रौं अष्टमातृकाभ्यः पूर्णार्घ्यं निर्वपामि स्वाहा ।
अणिमादिगुणैश्वर्यशालिन्येत्यष्टमातरः ।
याजकानां सुशान्त्यथ सुप्रसन्ना भवन्तु ताः ॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इष्टप्रार्थनाय पुष्पांजलिः। ॐ नमो भगवते :देवाधिदेवाय सर्वोपद्रवविनाशनाय सर्वापमृत्युंजयकारणाय सर्वमन्त्रसिद्धिकराय ह्रीं द्रीं क्रों अस्य देवत्तस्य सर्वापमृत्युं घातय घातय आयुष्यं वर्द्धय वर्द्धय भं वं ह्मः पः हः भ्वीं क्ष्वीं हं सः असिआउसा अर्हन्नमः स्वाहा।१०८ मन्त्रपुष्पार्चनम्।

इस 'मृत्युंजयाराधना' के प्रारंभ में चन्द्रनाथ, श्रुत, गणधर एवं मृत्युंजय यन्त्र का अभिषेकपूर्वक भूमिशुद्धि, चत्तारि अर्घ्य तथा चन्द्रप्रभ स्वामी की पूजा अङ्कित की गयी है। बाद श्यामयक्ष, ज्वालामालिनी यक्षी की पूजा दी गयी है। इसके पश्चात् मृत्युंजय यंत्र में लिखे जानेवाले बीजाक्षरोंके क्रमादि बतलाये गये हैं। साथ ही साथ इस यंत्र की पूजा विधि भी निर्दिष्ट है। सर्वान्त में अष्टमातृका की पूजा देकर यह कृति समाप्त की गयी है।

जैनसमाज में एक ऐसा भी पक्ष है जो आराधना ग्रन्थों को उपेक्षा-दृष्टि से देखता है। इसका कहना है कि ये जो आराधनायें हैं वे जैनियों के मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं और कर्मसिद्धान्त के एकान्त :अनुयायी जैनी इन आराधनाओं को मानने को तैयार नहीं हो सकते। साथ ही इसका यह भी कहना है कि ये आराधनायें जैनेतर आराधनाओं के अनुकरण हैं। किन्तु दूसरे पक्ष का यह कहना है कि एक गृहस्थ जैनी अपने परिवार में आये हुए आगन्तुक उपद्रवों की शान्ति के लिये अगर इन आराधनाओं से लाभ उठाता है तो अनुचित नहीं है। अन्यथा कर्मसिद्धान्त के एकान्त अनुसरण का परिणाम यही होगा कि कच्चे दिलवाले जैनी अपने ऊपर आई हुई असाताजन्य दुर्घटनाओं को दूर करने के लिये आर्त्तावस्था में अन्यान्य तामसिक देव-देवियों की आराधना आरंभ कर देंगे और यों करते-करते अन्ततः विपथगामी होने का उन्हें अवसर मिल जायगा। आज भी ऐसे अनेकों दृष्टान्त हम लोगों की नजरों से गुजरते रहते हैं। बहुत कुछ संभव है कि तमःप्रकृतिक देव-देवियों की ओर लौकिक सिद्धि के लिये दौड़ पड़ने और चंचलचित्त वाले जैनियों को स्वधर्म में स्थिर रखने की दूर दर्शिता से ही कुछ ग्रन्थकर्त्ताओं ने आराधनाओं की सृष्टि की होगी। जब वे अपने धर्म का सैद्धान्तिक मर्म समझने लगेंगे तब तो आप ही आप ये आराधनायें इनसे दूर भाग खड़ी होंगी। व्यवहारिक दृष्टि से यह नीति लचर नहीं कही जा सकती क्योंकि पीने में सुविधाजनक होनेके लिये ही वैद्य कड़वी दवा में शक्कर मिला देते हैं। अस्तु अभी इसके कर्त्ता का पता आदि नहीं लग सका।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(२६) ग्रन्थ नं० २४३/ख

सहस्रनामाराधना

कर्ता— ×

विषय—आराधना

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६। इञ्च   चौड़ाई ६ इञ्च   पत्रसंख्या ६०

प्रारम्भिक भाग—

सुत्रामपूजितं पूज्यं शुद्धं सिद्धं निरंजनम्
जन्मदाहविनाशाय नौमि प्रारब्धसिद्धये ॥ १ ॥
तद्वक्त्रजां नमस्कुर्वे शारदां विश्वसारदाम् ।
गौतमादिगुरून् सम्यक्दर्शनज्ञानमण्डितान् ॥ २ ॥
एतेषां सुप्रसादेन रचयामि प्रपूजनम् ।
सहस्रनामयुक्तस्य जिनेन्द्रस्य गुणाम्बुधेः ॥ ३ ॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्वपृष्ठ ३५, पंक्ति ७)

धृतकमलपरागैः सज्जलैस्तीर्थजातैः कनककलशशस्तैः तापसन्तापनाशैः ।
सुरनिकरसुमेरुस्नापितान्तैः पयोधेः सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥
ॐ ह्रीं.............. ....जलं निर्वपामीतिस्वाहा ।
मलयगिरिसुजातैः सद्द्रवैः कुङ्कुमाद्यै रविकुलकलितोद्यद्गुंजितैरिन्दुयुक्तैः ।
सहजसुरभिदेहं मुक्तिकान्ताकृताभं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (गन्धम्)
धवलशदकपुंजैर्मञ्जुलैः पुण्यपुञ्जैरिव कृतजनतोषैर्मुक्तमालिन्यदोषैः ।
क्षयरहितपदेशं(?) दत्तभव्योपदेशं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥(अक्षतान्)
कमलबकुलजातीकेतकीचम्पकाद्यैः सुरभिगुणसुदेवानन्दकैः सुप्रसूनैः ।
दलितकुसुमबाणं सर्वविद्याप्रमाणं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (पुष्पम्)
दधिकृतसहितान्नैः शर्करापायसान्नैः प्रचुरवटकबद्धैर्व्यंज्जनैः सन्निवेद्यैः ।
.................................सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (चरुम्)

Ac. Gunratnasuri MS   Jin Gun Aradhak Trust

तुहिनजगृहरत्नैः निर्जितामर्त्यरत्नैः सकलसद्दृशपीतैः वातघातैरधूतैः ।
विदितसकललोकं दिव्यमानं विलोकं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (दीपम्)
अगरुजवरधूपैर्धूपिताशामुखाभैः अमरनिकरनाथानिष्टधूमैर्मनोज्ञैः ।
वसुविधदुरितान्धदाहकं दाहमुक्तं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (धूपम्)
बकुलजलवलीश (?) दाडिमस्वादुकाम्रक्रमुकसुफलपूराद्यैरनिन्द्यैः फलौघैः ।
शिवसुखफललब्धिं सर्वतत्त्वेद्धबुद्धिं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (फलम्)
अमलकमलगन्धाच्छुरणातण्डु(?)लपुष्पैश्चरुगृहमणिदीपैः धूपकृत्सत्फलार्घ्यैः ।
शतमखनुतभेदारूपरत्नत्रयाढ्यं सकलविमलबोधं श्रीजिनं पूजयामि ॥ (अर्घ्यम्)

× × × ×

अन्तिम भाग :—

विशालकीर्तिर्वरपुण्यमूर्तिः शतेन्द्रसंचर्चितपादपद्मः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रः सुसहस्रनामा जिनेश्वरः पातु स भव्यलोकान् ॥
षट्षष्ठिसूत्रोक्तपदप्रमाणं त्र्यष्ट्याधिकं चात्र सहस्रयुक्तम् ।
मद्धे द्विरष्टौ (?) च पदानिलुप्ता (?) पद्मं च कृत्वाष्टदलाष्टकं वै ॥
इत्थं पुरोत्थं पुरुदेवयन्त्रं सम्भाव्य मध्ये जिनमर्चयामि ।
सिद्धादिधर्मादिजिनालयान्तं पत्रेषु नामाङ्कितततत्पदेषु ॥

इस 'सहस्रनामाराधना' में जिनसेनकृत सहस्रनामान्तर्गत प्रत्येक नाम के लिये प्रत्येक अर्घ का विधान पद्यमय अङ्कित है। यह ग्रन्थ दश परिधियों (मण्डलों) में विभक्त है। प्रत्येक परिधि के प्रारम्भ में जिनेन्द्र का प्रत्येक अष्टक (पूजा) निर्दिष्ट है। साथ ही साथ प्रत्येक परिधि की समाप्ति में जयमाला भी अन्तर्भुक्त की गयी है। अर्थात् प्रत्येक परिधि के प्रारम्भ में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा, (अष्टक) उस परिधि के अन्तर्गत नामों के लिये अर्घ्य एवं अन्त में पूर्णार्घ और जयमाला है। इस हिसाब से दस अष्टक साधिकसहस्र अर्घ्य और दस जयमालायें हैं। इस में ग्रन्थकर्त्ता के विषय में कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु १म और ९म को छोड़ कर प्रत्येक परिधि के अन्त में कुछ हेर-फेर करके दिये गये निम्नाङ्कित पद्य अवश्य विचारणीय हैं:—

"मुनीन्द्रदेवेन्द्रसुकीर्त्तये तत् श्रीधर्मचन्द्रः कृतधर्मभूषः ।
सुरेन्द्रकीर्त्तिवरधर्ममूर्त्तिः बभुर्जिनेन्द्रा वरसंघशान्त्यै ॥"

(द्वितीय परिधि का अन्तिम श्लोक)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

"इत्थं स्तुतो जिनवरो जगदां दिहर्ता·········भवाब्धिसु नृणां पतवा (?) सुकर्त्ता।
सद्धर्मचन्द्र इह धर्मसुभूषणाढ्यो देवेन्द्रकीर्तितयशा ह्यवतां सतां सः॥

(३य परिधि का अन्तिम श्लोक)

"इति वरनुतिपूज्यो देवदेवेन्द्रवृन्दैर्विगतसकललोको ज्ञानरूपो जिनेन्द्रः।
प्रथयतु शुभलक्ष्मीः धर्मचन्द्रो मुनीन्द्रस्तुतपदकमलोऽसौधर्मभूषस्तु नृणाम्॥"

(४थ परिधि का अन्तिम श्लोक)

"श्रीधर्मचन्द्रः श्रुतसिन्धुचन्द्रो विमुक्तदोषावरधर्मभूषः।
मुनीन्द्रदेवेन्द्रयशःप्ररूपः नः पातु शश्वज्जिनसौख्यरूपः।"

(५म परिधि का अन्तिम श्लोक)

"इतिस्तुतोऽभूत्त्रितयैकभूषणस्सुधर्मचन्द्राश्रितधर्मभूषणः।
मुनीन्द्रदेवेन्द्रयशःप्ररूपः नः पातु शश्वज्जिनसौख्यरूपः॥"

(६ष्ठ परिधि का अन्तिम श्लोक)

'सुधर्मचन्द्रो जिनचन्द्रभूषो देवेन्द्रसत्कीर्तितपादपद्मः।
सुरेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रपूज्यः पायात् स वः श्रीजिनपः पवित्रः।"

(७म परिधि को अन्तिम श्लोक)

"संसारमुक्तो जिनधर्मचन्द्रः सद्धर्मभूषो वरधर्ममूर्त्तिः।
देवेन्द्रकीर्तिः कृतदेवकीर्तिः पायाज्जिनो वो नरनाथपूज्यः॥"

(८म परिधि का अन्तिम श्लोक)

विशालकीर्तिर्वरपुण्यमूर्तिः शतेन्द्रसंचर्चितपादपद्मः।
श्रीमज्जिनेन्द्रः सुसहस्रनामा जिनेश्वरः पातु स भव्यलोकान्॥"

(१०म परिधि का अन्तिम श्लोक)

परिधियों के उल्लिखित इन अन्तिम श्लोकों की ओर ध्यान देने से यह पता लगता है कि इसके कर्ता देवेन्द्रकीर्ति हैं और इन्होंने जिनेन्द्र भगवान् के विशेषणरूप में अपना, अपने गुरु का एवं प्रगुरु का क्रमशः—धर्मचन्द्र, धर्मभूषण देवेन्द्रकीर्त्ति इन नामों से उल्लेख किया है। देवेन्द्रकीर्ति के नामसे कई व्यक्ति हुए हैं, इसलिये नहीं कहा जासकता कि अमुक देवेन्द्रकीर्त्ति ही इसके प्रणेता हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(३०) ग्रन्थ नं० २४४/ख

कलिकुण्डाराधनाविधान

कर्त्ता— ×

विषय— आराधना

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६। इञ्च चौडाई ६ इञ्च पत्रसंख्या १३

प्रारम्भिक भाग—

सत्पुष्पधाम्ना(?)प्रविराजितेन पुष्पेण पूर्णेन सुपल्लवेन।
सन्मङ्गलार्थं कलिकुण्डदेवमुपाग्रभूमौ समलङ्करोमि॥
(कलशस्थापनम्)

शुद्धेन शुद्धह्रदकूपवापीगङ्गातटाकादिसमावृतेन।
शीतेन तोयेन सुगन्धिनाहं भक्त्याभिषिञ्चे कलिकुण्डयन्त्रम्।
(तीर्थोदकाभिषेकः)

नीरैः सुगन्धैः कलमाक्षतौघैः पुष्पैर्हविभिर्वरधूपधूमैः।
भास्वत्फलार्घ्यैः कलिकुण्डयन्त्रं संपूजयाम्यष्टतया सुभक्त्या॥

× × × ×

मध्य भाग (पूर्वपृष्ठ ६, पंक्ति ७)—

प्रणम्य देवेन्द्रनुतं जिनेन्द्रं सर्वज्ञमज्ञप्रतिबोधसंज्ञम्।
स्तोष्ये सदाहं कलिकुण्डयन्त्रं सार्वं च विघ्नौघविनाशदक्षम्॥
नित्यं स्मरन्तोऽपि हितो (?) पि भक्त्या सदास्तुवन्तोऽपि जपं सुमन्त्रम्।
पूजां प्रकुर्वन् हृदये ददाति सच्चेप्सितं यच्छतु यन्त्रराजम्॥
प्रहांगणे कल्पतरुप्रसूनं चिन्तामणिश्चिन्तितदानदाने।
गावश्च तुल्याश्च हि कामधेनुर्यस्यास्ति भक्तिः कलिकुण्डयन्त्रे॥
नमामि नित्यं कलिकुण्डयंत्रम् सदा पवित्रं कृतरत्नपात्रं।
रत्नत्रयाराधनभावलभ्यम् सुरासुरैर्वन्दितमाद्य मीड्य..............॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सिंहेभसर्पाग्निजलाब्धिचौरैर्विषादयोऽन्ये च समूहविघ्नाः।
व्याध्यादयो राजकुलोद्भवं भयं नश्यत्यवश्यं कलिकुण्डपूजया ॥

× × × ×

अन्तिम भाग—

कलिलदहनदक्षं योगियोगोपलक्षम्
ह्यविकुलकलिकुण्डो दण्डपार्श्वप्रचण्डम् ।
शिवसुखमभवद्वा दासवल्लीवसन्तम्
प्रतिदिनमहमोडे वर्धमानस्य सिद्ध्यै ॥

इस 'कलिकुण्डाराधना' के आदि में कलिकुण्डयन्त्र एवं श्रीपार्श्वनाथ की प्रतिमा का अभिषेक, भूमिशुद्धि, पञ्चगुरुपूजा और चत्तारि अर्घ्य निर्दिष्ट हैं। बाद पार्श्वनाथ पूजा एवं इन्हीं की मन्त्रस्तुति; धरणेन्द्र यक्ष और पद्मावती यक्षी की पूजा तथा इनके मन्त्र-स्तोत्र दिये गये हैं। इसके उपरांत मंत्र लिखने की विधि और फल इत्यादि का निर्देश करते हुए प्रस्तुत यंत्र की पूजा बतलायी गयी है। अन्त में यन्त्रीय मंत्र की स्तुति, यंत्रस्थ पिण्डाक्षरों-का अर्घ्य, अष्टमातृका की पूजा; मन्त्रपुष्प और जयमाला लिखी गयी है। इसके कर्त्ता भी अभी अज्ञात ही हैं।

---

(३१) ग्रन्थ नं० २४५/ख

गणधरवलयकल्प

कर्त्ता— ×

विषय—मन्त्रशास्त्र

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ९। इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्र संख्या १०

प्रारम्भिक भाग—

देवदत्तस्य नामाहंकारेण वेष्टयेत् ।

ततोऽनाहतेन तस्याधः कर्मक्षयार्थं अर्थप्राप्त्यर्थं पद्मासनम्। शांतिकपौष्टिकसारस्वताथ श्रींकारासनम्। शत्रुविनाशार्थं क्रूरप्राणिवश्यार्थं च ङ्कारासनम्। ततः ओं ह्रीं अर्ह णमो

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वैद्य-सार

पं० सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१२७—ज्वरादौ कलाधररसः

सुरसं गंधकं चाभ्रं काशीसं शीसमेव च।
बंगं शिलाजतु यष्टि चैला लामज्जकं समम् ॥१॥
नालिकेरैश्च कूष्माण्डैः रंभाजेक्षुरसेन च।
पंचवल्कलस्वरसेन (?) द्वात्रिंशद्भावना तथा ॥२॥
नालिकेररसेनैव दद्याद्वल्लं सशर्करं।
पथ्ये संसिद्धलाजं हि शमयेत्तृट्गदान् ज्वरान् ॥३॥
रक्तपित्ताम्लपित्तं च सोमं पाण्डुं च कामलां।
पूज्यपादेन कथितः रसः चन्द्रकलाधरः ॥४॥

टीका—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, अभ्रक-भस्म, शुद्ध कसीस, नागभस्म, बंगभस्म, शुद्ध शिलाजीत, मुलहठो, छोटी इलायची, मंजीठ (एक सुगंधित तृण) ये सब बराबर लेकर नारियल के दूध से, कूष्मांड के स्वरस से, केला के कन्द के स्वरस से, ईख के स्वरस से तथा पंच वल्कल (पीपल, बट, ऊमर, पाकर, कठऊमर) के काढ़े से अलग अलग बत्तीस-बत्तीस भावना देवे और सुखाकर गोली बांधे। इस गोली को नारियल के दूध के साथ तीन-तीन रत्ती की मात्रा से मिश्री के साथ देवे तथा सिद्ध की गयी (पकायी हुई) लाई को पथ्य में देवे। इसके सेवन करने से तृषा एवं तृषा से उत्पन्न होनेवाले ज्वरों को लाभ होता है तथा रक्तपित्त, अम्लपित्त, सोमरोग (सफेद प्रदर) पांडु, कामला इन रोगों को भी लाभ होता है। यह रस श्रीपूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१२८—मन्दाग्नौ उदयमार्तण्डरसः

जयपालं विषटंकणं च दरदं त्रैलोक्यनेत्रांबुधि।
मर्द्यश्चार्द्र रसैर्द्विगुंजवटिका कार्या चतुर्बुद्धिभिः ॥१॥
मंदाग्नि विगुणानिलं च गुल्मं श्वासं च कासं क्षयं।
प्रोक्तः शूलविनाशकश्च मुनिना मार्तण्डनामा रसः ॥२॥

टीका—शुद्ध जमालगोटा ३ भाग, शुद्ध विषनाग २ भाग, टंकणक्षार २ भाग, शुद्ध सिंगरफ ४ भाग इन सबको एकत्रित करके अदरख के रस के साथ मर्दन करे तथा दो-दो रत्ती की गोली बनावे और इसको बुद्धिमान् अनुपान-विशेष से बलाबल के अनुसार देवे तो इससे मंदाग्नि, वायु की विगुणता तथा गुल्म, श्वास, कास, क्षय, शूल इन सब का नाश होता है, यह पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१२६—ग्रहण्यादौ कनकसुन्दररसः

हिंगुलं मरिचं गंधं पिप्पली टंकणं विषं।
कनकस्य च बीजानि समांशं विजयाद्रवैः ॥१॥
मर्दयेद्याममात्रं तु चणमात्रा वटी कृता।
भक्षयेद्गुंजयुग्मं तु ग्रहणीनाशने परः ॥२॥
अग्निमांद्यं ज्वरं शीघ्रमतीसारविनाशनः।
कनकसुन्दररसश्चासौ पूज्यपादेन भाषितः ॥३॥

टीका—शुद्ध सिंगरफ, काली मिर्च, शुद्ध गंधक, पीपल, सुहागे की भस्म, शुद्ध विषनाग, शुद्ध धतूरे के बीज ये सब बराबर-बराबर लेकर भांग के स्वरस से चार पहर तक मर्दन करे और चना के बराबर गोली बांधे। दो-दो रत्ती अनुपान-विशेष से सेवन करे तो ग्रहणी को लाभ होता है तथा मंदाग्नि, ज्वर, अतीसार को भी लाभ हो। कनकसुन्दर रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१३०—मन्दाग्न्यादौ अमृतगुटिका

त्रिकटु सूतगंधं च ग्रन्थिकं चव्यचित्रकं।
अमृतं लवणं चैव भृङ्गस्य रस-मर्दिता ॥१॥
एषा चामृतगुटिका च कृतवह्निविवर्धना।
अमृता गुटिका नाम विंशतिश्लेष्मरोगजित् ॥२॥
अशीतिवातजान् रोगान् नाशयेन्नात्र संशयः।
विबंधं नाशयेच्छीघ्रं पूज्यपादेन भाषिता ॥३॥

टीका—सोंठ, मिर्च, पीपल, शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, पीपरामूल, चाव, चित्रक, शुद्ध विषनाग और सेंधानमक ये सब बराबर-बराबर भाग लेकर भंगरा के रस से घोंटे और गोली बांध लेवे। यह गोली अनुपान-विशेष से दी जावे तो बीस प्रकार के कफरोग शांत हो, तथा अग्नि को बढ़ानेवाली, अस्सी प्रकार के बातरोगों को नाश करनेवाली और बिबंध को नाश करनेवाली यह अमृतगुटिका पूज्यपाद स्वामी ने कही है।

१३१—सर्वरोगे मरीचादिवटी

मरिचं नागरं नाभिंत्रितयं तत्समं तथा।
पिप्पली ताम्रभस्मानि प्रत्येकं सममात्रकम् ॥१॥

Ac. Gunratnasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust

भृङ्गराजरसैमर्द्या वटिका माषमात्रका।
एषा हि क्षीरसंयुक्ता सर्वव्याधिविनाशिनी ॥२॥

टीका—काली मिर्च, सोंठ, कस्तूरी तथा पीपल, तामे की भस्म ये पांचों समान भाग लेकर भंगरा के रस से मर्दन करे और एक माशे की गोली बांध कर दूध के साथ रोग तथा रोगी के बलाबल के अनुसार देवे तो सर्व प्रकार की व्याधि दूर हो।

१३२—विबन्धे विरेचनवटी

राजवृक्षफलं सारं त्रिफला गुडमेव च।
दंतितुत्थसमायुक्तं निष्कमात्रवटीकृतं ॥१॥
उष्णोदकं च ससितं वमने सौख्यमेव च।
गुडक्षीरेण संयुक्तं विरेके च प्रशस्यते ॥२॥

टीका—अमलतास का गूदा, बड़ी हर्र का बकला, बहेरे का बकला, आँवला, पुराना गुड, शुद्ध जमालगोटा तथा तूतिया की भस्म ये सब बराबर-बराबर ले और गुड उतने परिमाण में दे कि जितने में गोली बंध जावे। इसकी तीन-तीन माशे की गोली बना कर एक-एक गोली मिश्री के साथ तथा गर्म पानी से सेवन करने से वमन सुखपूर्वक होता है। गर्म दूध एवं पुराने गुड के साथ सेवन करे तो उत्तम जुलाब हो।

टिप्पणी—यहां पर तुत्थ भस्म का पाठ आया है और वह भी सब के समान भाग ही है परंतु वह अधिक है। वैद्यगण विचार कर उसकी मात्रा ग्रहण करें।

१३३—ज्वरादौ प्रतापमार्तण्डरसः

विषटंकणजयपालं हिंगुलं क्रमवर्द्धितम्।
तुलसीरस-संपिष्टं वटिकागुंजमात्रकाः ॥१॥
ज्वरादिनाशनश्चासौ विशेषैश्चानुपानकैः।
मार्तण्डप्रतापश्च पूज्यपादेन भाषितः ॥२॥

टीका—शुद्ध विषनाग, सुहागे की भस्म, शुद्ध जमालगोटा, शुद्ध सिंगरफ ये क्रम से एक भाग, दो भाग, तीन भाग, चार भाग लेकर खरल में घोंटकर तुलसी की पत्ती के रस से घोंट एक एक रत्ती के प्रमाण की गोली बनावे। यह अनुपान विशेष से ज्वर को नाश करनेवाला प्रताप मार्तण्डरस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१३४—विषमज्वरे प्रभाकररसः

कर्षं शुद्धरसस्यापि द्विमासे चाम्लविद्रुते।
निक्षिपेन्मर्दयेत्खल्वे षरिणष्कं शुद्धगंधकं ॥१॥
तुत्थांकोलकुणीबीजं शिलातालं चतुश्चतुः।
तत्समं मृतलौहस्य निष्कौ द्वौ टंकणस्य च ॥२॥
तत्समं कुटकीनीलवराटांजनशुद्धकम्।
निष्कत्रयं सितं योज्यं सर्वं चोक्तक्रमेण वै ॥३॥
शुभे मुहूर्ते शुभदिने खल्वमध्ये विमर्दयेत्।
चांगेर्यम्लेन यामत्रीन् जंबीराम्लैः दिनद्वयम् ॥४॥
पुटं हस्तप्रमाणं तु वसुसंख्यं तुषाग्निना।
जंबीरस्य द्रवैरेव पिष्ट्वा पिष्ट्वा पचेत् पुटे ॥५॥
ततो वनोत्पलैरेव देयं गजपुटं महत्।
आदाय चूर्णश्लक्ष्णं तु चूर्णांशं शुद्धगंधकं ॥६॥
तदर्धमरिचं चूर्णं तदर्धं पिप्पलीरजः।
तदर्धं नागरजं चूर्णं चैकीकृत्य त्रिगुंजकम् ॥७॥
लेहयेन्माक्षिकैः सार्धं नागवल्लीरसेन च।
पथ्यं दुग्धं विजानीयाद्भुक्तिः विषमज्वरे ॥८॥
चन्द्रकान्तिसमो नाम्ना रसश्चन्द्रप्रभाकरः।
क्षयव्याधिविनाशश्च सर्वज्वरकुलांतकः ॥९॥
एकमासप्रयोगेण देहश्चन्द्रप्रभाकरः।
कथित व्याधिविध्वंसो पूज्यपादेन निर्मितः ॥१०॥

टीका—शुद्ध पारा १ तोला लेकर उसको २ मास तक खटाई में मर्दन करे तत्पश्चात् १॥ तोला शुद्ध गंधक एक खरल में डालकर कज्जली बनावे; उसके बाद तूतिया की भस्म, अङ्कोल के बीज, कुणी के बीज (तुनवृक्ष), शुद्ध शिला, तवकिया हरताल की भस्म, लौह की भस्म एक-एक तोला तथा सुहागे की भस्म, कुटकी, नील की पत्ती, कौड़ी की भस्म, शुद्ध सुरमा ये सब दवाएँ छः-छः माशे और नौ माशा मिश्री लेकर सब को एकत्रित करके शुभ दिन एवं शुभ मुहूर्त्त में खरल में डालकर चांगेरी के स्वरस से तीन प्रहर तक, जंबीरी नींबू के स्वरस से दो दिन तक घोंटे एवं सुखाकर संपुट में बंद करके कपड़मिट्टी कर एक हाथ गहरे गड्ढे में पुट लगावे। इस प्रकार आठ पुट दे। ये सब आठों पुट जंबीरी नींबू के स्वरस से ही घोंट कर पुट तुष की अग्नि में देवे और अन्त में एक जङ्गली कण्डों

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

से बड़ी गजपुट देवे। स्वांग शीतल हो जाने पर चूर्ण कर के सब चूर्ण से आधा शुद्ध गंधक, गंधक से आधा काली मिर्च का चूर्ण तथा उससे आधा सोंठ का चूर्ण मिला सब को बराबर मिलाकर घोंटकर तीन-तीन रत्ती की मात्रा से शहद तथा पान के रस के साथ सेवन करे। इसके ऊपर दूध को पथ्यरूप में सेवन करे और यदि इसको विषमज्वर में देना हो तो दूध भी न देकर लंघन करावे। यह चन्द्रमा की कांति के समान चन्द्रप्रभाकर नाम का रस राजयक्ष्मा को नाश एवं सब ज्वरों को अन्त करनेवाला है। यह एक माह के प्रयोग से शरीर की कांति को चन्द्रमा की कांति के समान बनाने तथा अनेक व्याधियों को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१३५—ज्वरादौ संजीवनीय रसः

हिंगुलशुद्धत्रिभागकं सुरसकं भागद्वयं चोषणं।
भागैकं नवनीतकेन मर्द्यः निंबुकरसेनैव च ॥१॥
सिद्धोऽयं रसराज एष मधुना देयस्त्रिदोषज्वरे।
संतापज्वरदाहनाशनपरः संजीवनीयो रसः ॥२॥

टीका—शुद्ध सिंगरफ, तीन भाग, खपरिया की भस्म दो भाग तथा काली मिर्च १ भाग इन सब को कपड़छन्न करके नैनू (मक्खन) में घोंटे। पश्चात् नींबू के रस में तबतक घोंटे जब तक उसकी चिकनाई न मिट जाय। जब वह गोली बांधने योग्य हो जाय तो गोली बांध लेवे। इस गोली को शहद के साथ सेवन करे तो इससे त्रिदोषजन्य, संताप जन्य ज्वर एवं दाह की भी शांति होती है।

१३६—सर्वज्वरे विद्याधररसः

रसगंधार्कह्री धात्री रोहतत्रिवृतावरा।
व्योषाग्निहिंगुलं शुद्धं टंकणं च विनिक्षिपेत् ॥१॥
जयपालं शुद्धकं चापि मर्दयेद्वह्निवारिणा।
दंतिक्वाथेन मर्द्यः शोषयेत् सूर्यरश्मिभिः ॥२॥
बदरास्थिप्रमाणेन वटिकां कारयेद्भिषक्।
गुडेन सह वटिकैका नित्यं सर्वज्वरापहा ॥३॥
अनुपानविशेषेण प्रतिश्यायज्वरापहः।
पूज्यपादेन मुनिना प्रोक्तो विद्याधरो रसः ॥४॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, तामे की भस्म, लजनू के बीज, आँवले की उरगठी, बहेड़े की छाल, निशोथ, हर्र, बहेरा, आँवला, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, चित्रक, शुद्ध सिंगरफ सुहागे की भस्म और शुद्ध जमालगोटा ये सब बराबर-बराबर भाग लेकर थूहर के दूध से और दंती के काढ़े से एक-एक बार मर्दन करे और एक-एक दिन धूप में सुखावे। बेर के बराबर बराबर गोली बना गुड के साथ एक-एक गोली प्रतिदिन खाये तो सर्व प्रकार का ज्वर शांत हो तथा विशेष अनुपा न-द्वारा खाये तो जुखाम का ज्वर भी शांत हो जाता है। यह विद्याधर रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१३७—गुल्मादौ अग्निकुमाररसः

जयपोलशुभगंधरसाभ्रकाणां सौवर्चलं तुल्यकटुत्रयस्य।
मूत्रेण च षोडशभागमाने संमर्द्य सर्वं च दिनत्रयं च ॥१॥
वटिकां विधाय बदरप्रमाणां सेव्या वटी चोष्णजलानुपानात्।
एषा प्रयुक्ता सहसा निहंति सुरेच्य चादौ मलजातमेव ॥२॥
गुल्मं यकृत्पांडुविबद्धशूलबद्धोदरादींश्च जलोदरादीन्।
अग्निः कुमारो मुनिना प्रयुक्तः प्रकाशितो दीप इवांधकारे ॥३॥

टीका—शुद्ध जमालगोटा, शुद्धगंधक, शुद्ध पारा, अभ्रकभस्म, काला नमक, सोंठ, मिर्च, पीपल इन सब को एकत्रित कर के सब दवाइयों से सोलह भाग गोमूत्र लेकर तीन दिन तक बराबर घोंटे और बेरी के बराबर गोली बनावे तथा गर्म जल से सेवन करे तो इससे पहिले संचित हुए मल को निकाल कर गुल्म रोग, यकृत् रोग, पांडुरोग, विबद्धता, शूलरोग, बद्धोदर, जलोदर इत्यादि संपूर्ण पेट के रोग शांत होते हैं। यह अग्निकुमार रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ रोगरूपी अन्धकार को नाश करने के लिये दीपक के समान है।

१३८—सन्निपाते यमदंडरसः

बंगस्य सप्तभागः स्यात् सप्तभागरसस्तथा।
एकीकृत्य रसो मर्द्यश्चार्धश्च खलु गंधकः ॥१॥
अर्धभागं तथा तोलं वत्सनाभश्च तत्समः।
सर्वमेकीकृतं चूर्णं धूर्तद्रावेण मर्दयेत् ॥२॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

गुंजामात्रप्रमाणेन सन्निपाते च दारुणे।
अनुपानप्रभेदेन प्रयोक्तव्यः सदैव सः ॥३॥
त्रयोदश सन्निपातान् नाशयत्याशु निश्चितम्।
यमदण्डरसः ख्यातः पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—बंगभस्म सात भाग, शुद्ध पारा सात भाग, इन दोनों को खरल में डालकर मर्दन करे। पीछे उसमें ३॥ भाग शुद्ध गंधक मिलावे तथा आधा भाग तवकिया हरताल भस्म, आधा भाग शुद्ध विषनाग इन सब को एकत्रित घोंटकर कज्जली बना धतूरे के रस से मर्दन करके एक-एक रत्ती की गोली बनावे। अनुपान-भेद से उग्र कठिन से कठिन सन्निपात में भी सदैव प्रयोग करना चाहिये। यह यमदण्ड रस तेरह प्रकार के सन्निपातों को नाश करता है। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम योग है।

१३९—क्षयादौ वज्रेश्वररसः

कर्षोकणायोः सत्त्वञ्च षणिण्के हेमविद्रुते।
षणिण्कसूतं गंधं च ह्यष्टनिष्कं प्रवेशयेत् ॥१॥
प्रवालमुक्ताफलयोः चूर्णं हेमसमांशकम्।
क्रमाद्द्वित्रिचतुर्निष्कं मृतायः शीसबंगकान् ॥२॥
चांगेर्यम्लेन यामैकं मर्दितं चूर्णितं पृथक्।
निष्कद्वयनीलकटुकी व्योमायः कांततालकाः ॥३॥
अङ्कोलकं कुणीबीजतुत्थभस्मं पृथक् पृथक्।
अष्टौ तु टंकणक्षारः वराटानां च विंशतिः ॥४॥
महाजंबीरनीरस्य प्रस्थद्वन्द्वेन पेषयेत्।
पिष्ट्वा रुद्ध्वा शरावे च भस्मीभूतं समाचरेत् ॥५॥
मधुना लोडितो लेह्यः तांबूलीस्वरसेन सः।
वह्निदीप्तकरः शीघ्रं धातून् वर्धयतितराम् ॥६॥
अनुपानविशेषेण क्षयरोगविनाशकः।
रसो वज्रेश्वरो नाम पूज्यपादेन भाषितः ॥७॥

टीका—१ तोला पीपल का सत ले १॥ तोला शुद्ध सोना पिघलाकर उसमें डाल देवे और १॥ तोला शुद्ध पारा, २ तोला शुद्ध गंधक लेकर सब की कज्जली बनावे। पश्चात् १॥ तोला मोती घुटा हुआ, १॥ तोला प्रवाल घुटी हुई लेकर उसी में डाल दे और उसी में

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आधा तोला लौह की भस्म, पौन तोला शीसे की भस्म, १ तोला बंग भस्म डाल सब को खरल में एकत्रित कर चांगेरी के रस से १ प्रहर तक घोंट कर सुखा लेवे और उसमें छः-छः माशे नील की पत्ती, कुटकी, अभ्रक-भस्म, कांतलौह भस्म, तवकिया हरताल भस्म, अकरकरा, कुणी का बीज़, तूतिया की भस्म, २ तोला सुहागे की भस्म, ५ तोला कौड़ी की भस्म देकर उसी में मिलावे तथा जंबीरी नींबू के दो सेर रस में घोंट एवं सुखा संपुट में बंद करके सुखा कर भस्म करे। इस भस्म को योग्य मात्रा से शहद तथा पान के स्वरस के साथ सेवन करे तो अग्नि दीप्त हो, धातुओं की पुष्टि होवे और अनुपान-विशेष के बल से क्षयरोग का नाश करनेवाला यह वज्रेश्वररस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ श्रेष्ठ है।

१४०—द्राक्षादि क्वाथः

द्राक्षामधूकमधुकं कोद्रवश्चापि सारिवा।
मुस्तामलकह्रीवेरपद्मकेशरपद्मकं ॥१॥
मृणालं चन्दनोशीरनीलोत्पलपरूषकः।
द्राक्षादेः हिमसंयुक्तः जातीकुसुमेन वा ॥२॥
सहितो मधुसितालाजैर्जयत्यनिलपित्तजं।
ज्वरं मदात्ययं छर्दिं दाहमूर्छाश्रमभ्रमं ॥३॥
ऊर्ध्वाधोरक्तपित्तं च पांडुतां कामलामपि।
सर्वश्रेष्ठहिमश्चायं पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—मुनक्का, महुवा, मुलहठी, कोद्रवधान्य, सारिवा, नागरमोथा, आंवला, सुगंध-वाला, कमलकेशर, पद्माक्षचन्दन, उशीर, लालचन्दन, खस, नीलकमल, फालसा इन सब को बराबर-बराबर लेकर हिम (पांच प्रकार के काढ़े में से एक प्रकार का हिम काढ़ा में) बनावे और वह काढ़ा शहद, मिश्री, लाई, चमेली के फूल इन सब के साथ सेवन करे तो वात-पित्त से उत्पन्न हुआ ज्वर तथा मदात्यय नाम का रोग, वमन, दाह, मूर्च्छा, भ्रम उर्ध्वग रक्त-पित्त, अधोग रक्तपित्त, पाँडुरोग, कामला इत्यादि शांत होते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ योग पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है।

इस काढ़े को पकावे नहीं बल्कि सब दवाइयाँ रात को भींगो देवे तथा सुबह मल एवं छान कर पीये।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

(जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र)

भाग ४—वि० सं० १९९४ एवं वीर सं० २४६४ ।

सम्पादक-मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पण्डित के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४|) एक प्रति का १|)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विषय-सूची

पृष्ठ

१ आरा में बाहुबली (गोम्मटेश्वर) स्वामी की प्रतिमा [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री २४
२ एक प्राचीन गुटका [श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन १७६
३ ऐतिहासिक प्रसंग [,, पं० के० भुजबली शास्त्री १५७
४ कुछ भौगोलिक शंकाओं का समाधान [श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री ... १
५ क्या दिगम्बर समाज में तपागच्छ और खरतरगच्छ थे? [श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा २२५
६ जैनप्रतिमा-विधान [श्रीयुत बाबू त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए० ... ... १६
७ जैनशिलालेख-विवरण [श्रीयुत प्रो० गिरनॉट २९
८ जैन-प्राकृत-वाङ्मय [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ९०
९ जैनज्योतिष और वैद्यकग्रंथ [श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा ११०
१० जैन मन्त्र-शास्त्र [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री १३५
११ जैनज्योतिष और वैद्यक ग्रंथ [श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा १८६
१२ जैनसिद्धांत का प्राचीन स्वरूप [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन १९३
१३ जैन हिन्दी-वाङ्मय [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री २००
१४ डाकूरशाही इतिहास (?) [श्रीयुत जैनाचार्य विजयइन्द्र सूरि ८४
१५ दिल्ली के सुलतान और कर्नाटक के जैनगुरु [श्रीयुत डा० भास्करानन्द सालेत्तूर, एम० ए०, पी० एच० डी० ... ... २०८
१६ बंगाल में जैनधर्म [श्रीयुत बाबू सुरेशचन्द्र जैन, बी०ए० ... ... १५१
१७ बारकूरु (एक सुप्राचीन जैन राजधानी का ध्वंसावशेष) [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री २३३
१८ भट्टाकलंक का समय [श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री १६५
१९ भगवान पुष्पदन्त और पूज्यपाद स्वामी [श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री ... २१६
२० राजगृह [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन ७१
२१ लोंकाशाह और दिगम्बर साहित्य [श्रीयुत बाबू अगरचंद नाहटा ... ३४
२२ श्रीधरसेन-कृत 'विश्वलोचनकोश' का समय [श्रीयुत पी० के० गौड़ ... ९
२३ श्रीबाहुबली की मूर्ति गोम्मट क्यों कहलाती है? [श्रीयुत गोविन्द पै ... १०२
२४ सम्मेदशिखरजी की यात्रा का समाचार [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन ... १४३
२५ हस्तसंजीवनम् [श्रीयुत बाबू त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए० ... ... २२९

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

२६ बिविध विषय—(१) अष्टशाखा उपजाति [श्रीयुत बाबू का० प्र० ... २४६
(२) इतिहास-संसार पर अनभ्र वज्रपात [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री १२६
(३) एक प्राचीन गुटका की कतिपय रचनायें [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन १२२
(४) कोन्डकुन्दाचार्य और आचार्य उमास्वाती [श्रीयुत का० प्र० २४२
(५) कोपणतीर्थ की एक मूर्ति [श्रीयुत का० प्र० ... २४६
(६) चंदवरदाई और दिगंबर मुनि ,, ... ४५
(८) "जैनएन्टीक्वेरी" के लेख ,, ... १२४
(९) जैन-सिद्धांत-भवन, आरा की संक्षिप्त रिपोर्ट ... १२७
(१०) "जैन एन्टीक्वेरी" के लेख (श्रीयुत बाबू का० प्र० ... १८९
(११) ,, ,, ,, ... २५०
(१२) देवगढ़ [नाथूराम सिंघई ४१
(१३) दिगंबर जैनसंघ में भेदों की उत्पत्ति [श्रीयुत बाबू क० प्र० ... २४०
(१४) धर्मपुरा-दिल्ली के नये जैनमंदिर की वेदी का परिचय [श्रीयुत बाबू अजित प्रसाद एम०ए०,एलएल०बी० ... ... १२५
(१५) धन्यवाद [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... १२६
(१६) नैषधीय चरित में जैनधर्म का उल्लेख [श्रीयुत बाबू का० प्र० १८८
(१७) बंगाल में जैन धर्म [श्रीयुत बाबू छोटेलाल जी जैन ... २४८
(१८) भारतीय कथा-साहित्य के आदि लेखक जैनाचार्य [श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन ४४
(१९) भगवान् महावीरकी निर्वाण-तिथि [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ४९
(२०) रियासत जयपुर में प्राचीन जैनस्थान [श्रीयुत बाबू का० प्र० २४३
(२१) राजावली (मैनपुरी के गुटके पर से) ,, ... २४९
(२२) श्रीसंघ, तपागच्छ और खरतरगच्छ ,, .. ११९

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

२७ साहित्य-समालोचना—(१) कर्मदहनाराधना-विधान [श्रीयुत पं० के भुजबली शास्त्री १३०
(२) तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय [श्रीयुत बाबू हीरालाल जैन ५१
(३) पतितोद्धारक जैनधर्म ,, ,, ... ७०
(४) प्रवचनसारका नया संस्करण [श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार ५३
(५) मूडबिदुरेय चरित्रे [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... १२९
(६) श्रीकुन्दकुन्दाचार्य का कुरल-काव्य [ए० एन० उपाध्ये १३२
(७) स्तोत्र-मंजरि [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... १३१
(८) स्तोत्र-मंत्र-सार-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री २५१

ग्रन्थमाला-विभाग

१ तिलोयपण्णत्ती [श्रीयुत प्रो० एन० उपाध्ये ... ... पृष्ठ १७ से ४८ तक
२ प्रशस्ति-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... ... ,, ६५ से ९६ ,,
३ वैद्यसार [श्रीयुत पं० सत्यन्धर आयुर्वेदाचार्य ... ... ,, ६६ से ९६ ,,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ॐ

THE
JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. III.] MARCH 1938. [No. IV.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, Amraoti, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, Kolhapur, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah. U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, Arrah.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

***Annual Subscription*:**

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 4-8.** **Single Copy 1-4.**

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

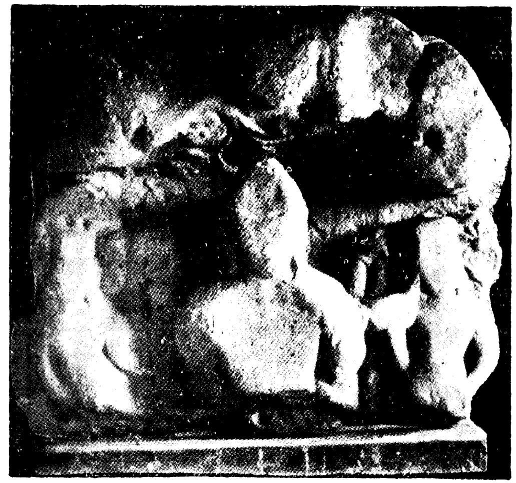

Ac. Gunratnasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. III, No. IV	ARRAH (INDIA)	March 1938.

SOME BRAHMANICAL DEITIES IN JAINA RELIGIOUS ART.

BY

Vasudeva Sharaṇa Agrawala, M.A., Curator, Mathura Museum.

The subject of Jaina iconography is of great importance for a proper reconstruction of the religious history of early Jainism. But it is to be regretted that a volume comprising an adequate study of the subject commensurate with its importance, is still a desideratum. Indeed, the want of suitable books on Jaina iconography is being felt by more than one scholar. Whereas Buddhist iconography has been dealt with at length by several scholars of established repute, there being such standard works as those of Foucher, Bhattacharya, Getty and Banerji, and the subject of Brahmanical iconography had fortunately its T. Gohmath Rao, there is yet to emerge a scholar to devote his energies and resources to a comprehensive study of the material relating to Jaina images and sculpture.

The quantum of available material also justifies the claim of Jaina art to treatment in a special treatise. There is no period or century in

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

the annals of Indian art for which ample material relating to Jain religious sculpture is not available. Prof. Jayaswal recently published an excellent nude standing image of a Jaina Tīrthaṁkara distinguished by the characteristic Mauryan polish, [Jaina Image of Maurya Period, J. B. O. R. S., March, 1937, p. 130]. The Hathigumpha Prakrita inscription of King Khāravela of circa 161 B. C. [carved on the roof of the Hathigumphā, an artificial cave, on the southern face of the Udayagiri. a low range of hills situated about three miles from Bhuvaneśwar in the Purī district of Orissa] refers to the preaching of the religion of Jina in Kalinga [and on the Kumārī Hill where the 'Wheel of Conquest' had been well-revolved,' line 14] and to the setting up of (the image of) 'the Jina of Kalinga (probably Śitalanātha whose birth place was in Kalinga or of Mahāvīra himself who had gone there on a preaching mission) which had been taken away by King Nanda (line 12). [*Epigraphia Indica*, Vol. XX, The Hāthigumpha Inscription of Khāravela, by Jayaswal and Banerji, p. 88.]

We must also refer to the other Jaina caves in Orissa, *viz.*, the Mañchapurī (Vaikuṇṭha or Pātālapurī of earlier authors) which besides another inscription of Kharavela's reign also contains a crudely executed freize; the Anantagumpha, the Rānigumpha and the Ganeśha-gumpha caves, carved between 150 and 50 B. C.

The Anantagumphā cave affords important evidence. Its pediment sculptures include a female surrounded on all sides by and standing amongst lotuses, who appears as the Goddess of Beauty and Prosperity personified :—

अभजतपद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी—वनपर्व २२९।३

Under her arms she has long lotus stalks surmounted by big flowers. On her sides are two elephants with upraised trunks standing on bulbous lotuses, next to them is what looks like a pair of horses with long necks bent low to touch the buds which are supporting them. In the circular frieze above the goddess, are several wild animals, lions and bulls, full of strength and energy. [For the illustration see, Cambridge History of India, Vol. I, fig. 75].

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Dr. Coomaraswamy writes about this figure: In Buddhist art this would represent the Nativity of Buddha, in Hindu art Gaja-Lakshmī, but what it represents, unless perhaps the Nativity of Mahavira, we do not know; it is one of many motifs, such as the *triratna* and the *chaitya* tree, which are elsewhere Buddhist, but here employed in Jaina art.' [*History of Indian and Indonesian Art*, p. 38] Dr. Foucher in his Memoir on the Iconography of Buddha's Nativity, is inclined to take the Gaja—Lakshmi motif as sympolishing Buddha's nativity. He is so sure of his surmise that he adds, 'not only is there nothing to preclude, but everything to prove that the modern Hindu Lakshmī started in olden days by being the Buddhist Māyā. [Memoir, p. 2].

While we can not be so sure regarding the relative positions of Lakshmī and Māyā, it is more probable that the Buddhists accepted the earlier motif of Gaja Lakshmī as they did in the case of a number of other motifs and connected it with the symbolism of Buddha's birth. But the motif as suuh existed from very early times. Both Sri and Lakshmī as Goddesses are referred to in the Yajurveda at the end of the Purusha sūkta xxxi, 22:—
श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ—

Fortune is dependent on fertility, and fertility, is produced by the clouds drenching the earth with heavy downpours at regular intervals. The clouds are the 'elephants of the quaters' (*diggajas*) which bathe the goddess of fortune and perform her *abhisheka*. This is the significance of the Brahmanical Gaja-Lakshī. The Śatapatha Brāhmaṇa [xi 4·3] speaks of the birth of Śrī [Fortune and Beauty] from the *tapas* of Prajāpati while creating living beings. 'She stood there resplendent, shining and trembling. The gods...... set their minds upon her. Surely, that Śrī is a woman......' It is also stated in the same connection that Agni, the food-eater, the food-lord, bestowed food upon her; Soma, the king, the lord of kings, bestowed royal power upon her; Varuṇa, the universal sovereign, the lord of universal sovereigns bestowed universal sovereignty upon her; Mitra, the Kshatra, lord of the Kshtra, bestowed noble rank upon her; Indra, the power, lord of power, bestowed power upon her; Bṛihaspati, the Brahman, lord of the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Brahman bestowed holy lustre upon her; Savitā, the kingdom, the lord of the kingdom, bestowed the kingdom upon her; Pūshan, wealth, the lord of wealth, bestowed wealth upon her; Saraswati, prosperity, the lord of prosperity, bestowed prosperity upon her; and Tvashṭā, the fashioner of form, the lord of forms, bestowed form upon her :—

अग्निरन्नादोऽन्नपतिरन्नाद्यं......सोमो राजा राजपतिः राज्यं
......वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः साम्राज्यं
......मित्रः क्षत्रं क्षत्रपतिः क्षत्रं......इन्द्रो बलं बलपतिः बलं
......बृहस्पतिः ब्रह्म ब्रह्मपतिः ब्रह्मवर्चसं......
...सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः राष्ट्रं......पूषा भगं भगपतिः भगं
......सरस्वती पुष्टिं पुष्टिपतिः पुष्टिं
...त्वष्टा रूपाणां रूपकृद् रूपपतिः रूपेण पशुन्......

According to another account in the Śatapatha Brāhmaṇa Śrī was the ạbode of the vital airs [vi 1-1-4 :—

अथ यत्प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियः

Her representation at Anantagumphā betrays a similarity with the figures of mother goddesses found elesewhere. It is of the type of the goddess Prithivi on the Lauriyanandangarh gold leaf. In fact Śrī that is represented in several other sculptures [*viz.*, Sanchi north Toraṇa of Stupa I, *H. I. I. A.*, fig, 53; Stūpa II at Sanchi, *C. H. I*, plate XXI. fig. 57; at Bodhagaya, *C. H. I.*, fig. 50; at Kosam, *Ann. Bibliography,* for 1934, fig. d of plate II] shares the same iconographic style. We have the evidence of the Aitareya Brāhmaṇa in which Śrī is identified with Earth :—इयं (पृथिवी) वै श्रीः—ऐ० ८।५

The Vedic conception of the Great mother Goddess, the Magna Mater Deorum, regards Earth as the supreme mother of all living creatures, whether men, animals or birds. We have discussed the available evidence at some length in the article entitled Mathura Terrecottas published in the Journal of the U. P. His. Society [July, 1936, pp. 19—26]. Aditi, Śrī, Pṛithivī, all appear to be common and synonymous appellations.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

As against Dr. Foucher's statement of the signification of Śrī in the early Buddhist art of Sanchi, Bharaut and Bodhagaya etc., as the symbol of Buddha's nativity, we should rather look upon this motif in its proper historic setting, and treat it as one forming part of the common stock of the numerous art motifs which had been handed down from the earlier strata of religious art forms. Dr. Bühler pointed out that there was no distinctive school of Buddhists, as distinguished from Jaina and Brahmanical, art. All sects made use for devotional purposes of the art style of their period, and all alike to a very large extent used the same symbolism. Wheels, tridents, lotus flowers, stupas, and many other forms of symbols are common to all the sects.' [Smith, *Jaina Stupa*, p. 27] The assigning of the definite meaning of Buddha's nativity also does not agree with the Jaina interpretation of the Gaja-Lakshmi motif.

We read in the *Kalpasūtra* that *Triśalā*, mother of Mahāvīra, saw the following fourteen auspicious dreams at the time when the Arhat entered her sacred womb by transfer from the womb of the Brāhmaṇī. Devānandā :—

1 गय, 2 वसह, 3 सीह, 4 अभिसेय, 5 दाम 6 ससि, 7 दिणयर, 8 झय, 9 कुंभ, 10 पउमसर 11 सागर 12 विमाणभवण 13 रयण 14 सिहि।

i.e., गज or elephant with four tusks and white colour, roaring like the thunder heavy with pent up waters, वृषभ or bull with a big hump, सिंह or lion, अभिषेक or the consecration of श्री standing in the midst of a lotus-pond (पद्म-सरोवर) on the Himavanta mountain, by elephants hoarding water in their trunks, दाम or garlands of flowers, शशी or moon, दिनकर or sun, ध्वज or flag-staff. कुम्भ or Brimming Vase, पद्मसर or lotus-pond, सागर or the milky Ocean, देवविमान गृह or the celestial palace, रत्न or gems, and शिखी or the flame of fire.

The dream regarding Abhisheka or Śrī Lakshmī motif is described there at great length. and the enormous number of lotuses surrounding her is given as 1,20,50,120.

We have thus the definite evidence from Jaina literature that the *abhisheka* motif was an ancient one, and counted one of the fourteen,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

IMAGES FROM KANKĀLĪ TĪLA.

Next in age, but perhaps the greatest religious establishment of the Jainas was at the well known site of Kankali tila at Mathura. Having a continued history of about 1400 years [2nd cent B. C. to 1100 A. D.], this magnificent site merits universal attention. The sculptured treasures found from this place are of the greatest aesthetic and iconographic value. The bulk of them are at present deposited in the Provincial Museum at Lucknow. The excavations were conducted by Dr. Führer at different times between 1887 and 1896.

The antiquities were published by V. A. Smith in his *Jaina Stūpa and other Antiquities of Mathurā* (Govt. Press, Allahabad, 1901, a few copies of which are still available), and illustrated in 107 plates forming part of that book. But the importance of those sculptures requires their reproduction in a decent monograph which should be sumptuously illustrated. No study of Jaina iconography would be perfect without taking detailed notice of the images and bas reliefs from Kankali tila, and for that purpose suitable presentation of the original material is indispensable.

Dr. Führer recognised that 'the remains in the Kankali mound included those of a Buddhist *Vihāra* and of a Vaishṇava temple in addition to the more prominent Jaina edifices.' [*Jaina Stūpa* p. 41]. Amongst Buddhists sculptures we have the scene of the *garuḍa-nāga* battle (page 25), story of Ṛishya Śṛinga (plate 28), Bodhisattva with three saints and two monks suspended in the air (pl. 85) and Buddha head with *ushṇīsha* and *ūrṇā* (pl. 101, fig. 2). Amongst Brahmanical sculptures we have the big image of seated Gaṇeśa wearing a *nāga-yajñopavītā* and holding a *vajra* in his left hand. This image is of the late Kushana period and may have been installed in the Hindu temple at the Kankali site.

The pot-bellied figure illustrated on plate 88 of the *Jaina Stūpa*, having an aureole of flames, has been variously identified. It is often vaguely taken as that of Vaiśravaṇa. But more properly the image appears to have been that of Agni. The god has matted hair tied in a knot on the head, is wearing a rosary of *rudrāksha* beads round the neck, is pot-bellied, and from the attitude of the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

left hand it appears that he held an *amrita-ghaṭa* or *kamaṇḍalu*. All these marks point to its having been a Brāhmanical deity. It is difficult to say whether the image was installed in the Hindu temple at the Kankali site or was installed in a portion of the Jaina monument there. [cf. also D. 24 Image of Agni in the Mathura Museum.]

But the image which can be attributed to the Jainas with certainty is that of the Brahmanical goddess Saraswati. [plate 99]. It is represented as a squatting female wearing a skirt and a scarf, with two attendants on her sides. She is holding in her left hand a book or loose leaves, the cover of which is marked with a *gomūtrika* design and held her right hand probably in *abhaya mudrā.* The inscription tells us that this image of Saraswati was set up by the smith (लोहिककारुक) Gova, son of Siha, at the instance of the preacher (वाचक) Aryya Deva, the श्रद्धाचर of the *gaṇin* Aryya Māghahasti, the pupil of the preacher Aryya Hastahasti, from the Koṭṭiya gaṇa, the Sthāniya *kula*, the vaira *sākhā*, and the Śrigriha *sambhoga*, for the welfare of all beings. [*Jaina Stupa*, p. 57].

For the specific enquiry instituted here the most important is the image of a Tīrthaṅkara found from the Kankali tila but now deposited in the Lucknow Museum. [plate 98 of the *Jaina Stupa*]. It is shown as fig. 1 with this article. The Tīrthankara is seated in *padmāsana* and *dhyanamudrā* on a raised lotus seat. There are a halo round the head which is damaged, and a *srivatsa* symbol in the centre of the chest. By his side are two attendants standing on lotuses, holding flywhisks and wearing high mitres. On each side of the slab there are two vertical bands showing miscellaneous figures The right inner band is divided into four compartments. It contains, from below (1) two seated worshippers in *añjalimudrā* ; (2) a two-armed deity holding a *pāśa* in his left hand, the right being lost. He is wearing round earrings and a pearl necklace; (3) A standing male figure in tribhaṅgi pose, having four arms. There is a canopy of serpenthoods at the back of the head, (4) the upper most figure is lost.

The left inner band contains in order from below, (1) two miniature worshippers, *i.e.*, *dampatī*, (2) a female holding a child on

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

her left thigh and a lotus flower in her right hand. She is seated on a lion. Obviously the figure represents Gaurī or Ambikā. Amongst the Jainas she may be the Yakshini of Neminātha, (3) A male figure with four arms standing in *tribhangi* pose. (4) In the uppermost panel is a Tirthankara seated in *padmāsana* and *dhyanamudrā* and has the distinguishing symbol of the snake coils and hoods at his back. He must therefore represent the twenty-third Tīrthaṅkara Parśvanātha, whose cognizance is a *sarpa* even according to the early Kushana sculptures.

The outer bands on either side contain male and female attendant figures.

On the pedestal is a *Dharmachakra* flanked by two worshippers, and two sejant lions looking in opposite directions. On one side of the wheel is a small bull standing and on the other side another bull or cow seated. But the most important iconographic feature is the presence of the two figures standing in *tribhangi* pose.

Baladeva and Vāsudeva. The two four armed images on the right and left sides standing in *tribhangī* poses are those of Balarāma and his brother Krishna. Balarama is holding a big club (*musala*) in the right hand and a ploughshare in the left. The inner right hand is holding a cup and the left is held akimbo. The image is similar to the independent images of this deity found in Mathurā art, like Balarama from Bajna of the early Gupta period [No. 1399, fig. 13, Brahmanical Images in Mathura Art, *Hindustani*, Allahabad, January 1937].

The left side image is that of four-armed Vishnu holding the inner right hand in *abhaya mudrā* which must have been carved with a small lotus, and *gadā, chakra* and *śankha* in the remaining hands. This is similar to the numerous Vishnu images found at Mathurā. That both Balarāma and Vishnu are Brahmanical divinities is also indicated by the presence of the full-flowing *vaijayantī* garlands on their persons which is an invariable feature of the Gupta and post-Gupta Hindu images.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The legend of Krishna and Balarāma is found at great length in the Jaina books, which also, recognise the story of the five Pāndavas and Draupadī. Vāsudeva Krishna and Balarāma are said in the Kalpasūtra to have been the brothers of the twenty-second Tīrthaṁkara Neminātha. It is said that the Harivaṁśa dynasty came into existence in the time of the tenth saint, Śītalanātha, and the fifth miracle deals with Krishna's visit to Amarakaṅkā town in the age of Muni Suvrata, the twentieth Jina. The Jainas also have a class of deities known as the Vāsudevas who attend upon the Tirthaṁkaras. The present image depicts Neminātha with Baldeva and Vāsudeva, who though principal Brahmanical incarnations, were also his relatives according to Jaina tradition.

Recently another similar image was acquired for the Mathura Museum from the collection of the late R. B. Pt. Radha Krishna. [Fig. 2; no. 2502 in the Mathura Museum]. This image must be attributed to about the fourth century A. D., while the previous image in the Lucknow Museum may be about two centuries later. The proper right side figure is a Nāgarāja of seven hoods to be identified with Balarāma, having four arms, and holding a cup and a plough in the left hands, the objects in the rt. ones being lost. The left side figure is of four armed Vishnu with his symbols of which *gadā* and *chakra* are still preserved. Above the Jina's head is a canopy projecting from the back slab. It is carved above and below wilh foliāge of his peculiar Bodhi tree. The leaves are round and may be of the banyan. This also is an image of the Tirthamkara Neminatha belonging to the Gupta period.

YAKSHIṆĪ AMBIKA.

Another image with still more pronounced Brahmanical features is that of a female goddess, No. D. 7 in the Mathura Museum, who may be identified with Ambikā, the Yakshiṇī of the Arhat neminātha according to the Jaina pantheon. It is a medieval sculpture of about 8th—9th century and is well-carved. It is described and illustrated by Dr. J. Ph. Vogel in his *Catalogue of the Mathura Museum*, pp. 95—96, plate XVII. Dr. Vogel thought it to be an image of

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Pārvatī, with whom it has obviously much similarity, and the presence of Gaṇeśa on the proper right side also lends support to that view.

But the seated Jina above the head of the goddess betrays its relationship with Jainism. The Tirthamkara is flanked on either side by two standing figures, about whom Dr. Vogel wrote: 'On both sides is a four armed figure standing on a flower.' [*Catalogue of the Mathura Museum* p. 96]. These two figures standing in *tribhangī* pose, are respectively of Balarāma on the right side and Vāsudeva on the left. Balarama is holding his *musala* and *hala,* while Vishnu has his characteristic four *āyudhas.* Both figures are wearing typical Brahmanical *vaijayanti* garlands. The Tīrthaṁkara therefore on account of these attendant figures must be identified with Neminātha, and the female figure consequently was intended to represent his Yakshiṇī named Ambikā. She is seated on a lion and holds a child in her lap on the left thigh much in the same fashion as Brahmanical Parvati holds Skanda. As. Dr. Vogel says the two squatting figures near her legs on right and left are of Gaṇeśa and Kubera.

The above account therefore, shows that Gaja-Lakshmī, Sarasvatī, Baladeva, Vasudeva and Ambikā, who were charateristically Brahmanical deities, were assimilated in Jaina religious belief and represented in Jaina art from an early period.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The Origin of the Swetambara Sect.

By C. R. Jain.

The question—Who were the first, the Digambaras or the Swetambaras?—It seems, is still agitating the Swetambara mind, though all the historical indications are against their priority. In recent times certain books have also been published, which just give expression to the Swetambara view and completely ignore the Digambara Records. One of these is the "Historical Jainism," composed by Prof. Bool Chand, M.A., of the Hindu College Delhi, who is a Swetambara himself.

Unfortunately, he does not critically examine the records and assumes certain matters, stated in the Swetambara books, to be facts. It is not necessary to accuse him of bias, but it is evident that he has not brought his critical faculty to bear on the problem.

The most important question is; when did the main schism in the Jaina Community occur? Both the parties—the Swetambaras and the Digambaras—are agreed that it became marked about 75 A. D., but the Swetambaras try to show that there was an earlier schism in the time of Mahāvîra Himself when his son-in-law, Jamālî, led a separatist movement against Him. The Digambaras deny that Mahāvîra was ever married or had a daughter and a son-in-law. Historically there is no proof outside the Swetambara books of the existence of any sect or sub-sect that might have been founded by Jamali. What happened to it, where did it spread, what were its teachings, in what respects it differed from the teaching of Mahāvîra, and when did it begin to decline and perish?—are points on which no light is thrown whatsoever. The Digambara books, the Hindu books, and the Buddhist books do not lend the least support to the supposed existence of a daughter of Mahāvîra, or of her husband. What happened to Jamali's own descendants? What were their names? Where and when did they reign, if they were Kings? For how many generation did the line continue? These are some of the questions which arise from the historical point of

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

view. From the Jaina point of view, a schism like the one alleged is simply inconceivable; for Mahāvîra was omniscient, attended by *Devas* from the Heavens. Who was Jamāli against such an omniscient Teacher, and who would care to follow him against Mahāvîra? Was Jamāli himself omniscient? If so, the teaching of two omniscient Teachers would not clash, and would not be different. If he was not omniscient, he was inferior to Mahāvîra and could not possibly, during Mahāvîra's lifetime, get a hearing from anybody among the Jainas. In the time of Buddha, in the time of Muhammad, in the time of the founder of any other Religion, no schisms arose or could have arisen. Who could originate a schism against the founder of a Faith, unless he claimed to be a founder himself? But this would not be a schism, but the founding of another Faith, so that a schism is not conceivable during the life of a Founder, although one may occur immediately after him.

Now let us look at the problem from another point of view. Of the two versions of Mahāvîra's life—the Swetambara and the Digambara—it is obvious that only one can be true: either Mahāvîra married, or he did not marry. If Mahāvîra married, why should the Digambaras deny it? There is absolutely no reason for such a denial. The Digambaras acknowledge that nineteen out of the twenty-four Tîrthankaras married and had children. If Mahāvîra also married it would make no difference. There is thus no reason whatsoever for the Digambaras to deny a simple incident like this. But there may be a reason for the Swetambaras making the assertion—the desire to minimise the importance of the causes which led to the birth of their Sect and to ante-date their own origin. As a matter of fact their own books contain clear refutation of the statement that Mahāvîra had married. In the Samavāyānga Sutra (Hyderabad edition) it is definitely stated that 19 *Tîrthamkaras* lived as householders, that is, all the 24 excepting Shri Mahāvîra, Pārśva, Nemi, Mallinatha and Bāspujya.

Further, *according to the Swetambaras, the followers of the* twenty-third Tîrthamkara believed that Salvation could be obtained without complete disrobing; and Mahāvîra was born in the Swetambara Faith. Why, then, should Mahavira unrobe Himself completely

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

and unnecessarily, and why should he preach the doctrine of nudity for Salvation? The testimony of the non-Jaina (Hindu and Buddhist) books does not mention the existence of the Swetambaras at all at the time; only the Digambaras are mentioned by them The fact is that the positing of robed Jaina Saints in the time of the twenty-third Tîrthamkara lands us into inextricable difficulties and contradictions.

From the Jaina point of view again, the twenty-third and the twenty-fourth Tîrthamkaras, being both omniscient, could not have taught in any way differently.

The truth is that these statements do not explain the fact of the schism, which actually had its inception in the fourth century B. C., and became clearly marked about the end of the first century A. D. Let us now consider the Swetambara explanation of the origin of the Digambara Sect, which is as follows: a Jaina monk (a Swetambara, on the supposition that the Digambara Sect had not arisen at that time) was given a costly blanket by a great king or some other important personage, and became very fond and proud of it. His Preceptor, noting his fondness for the blanket, ordered him to part with it, but this he refused to do, and, in an angry mood, ran away leaving it behind. He founded the Digambara Sect. The account is, however, incredible, because, firstly, no Jaina householder would ever think of giving a costly blanket to a Saint, the gift being against the rules of saintly conduct. It is well known how keenly the Jaina laity watch the behaviour of their Saints, to make them observe all the rules governing saintly life, and how bitterly hostile they can be in cases of laxity. It is, therefore, not very likely that a Jaina householder will himself give a costly blanket to a Jaina Saint, who is not allowed costly things, not even a blanket to keep himself warm. Secondly, even assuming that the Saint ran away naked leaving his blanket, how could he hope to find a following for the nudist doctrine among people who were not accustomed to unrobed Saints, but to robed ones? Surely they must have regarded him as a shameless renegade, and would not have allowed him to enter the privacy of their female apartments, to appear nude before their sisters, daughters, mothers and wives. It is very unlikely that the practice of

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

nudity among Saints could be introduced in this way into a society accustomed to entertain robed ones. What is wanted is some very powerful influence, like the presence of a Tîrthamkara, to overcome the sense of shame, lewdness and humiliation caused by the sight of naked males. Lastly, if the Digambaras were brought into being by Mahāvîra Himself, they would not need to be called into existence again at this time. The story thus fails to satisfy the mind or to settle the problem.

Both the sects agree that there was a severe famine in the time of Chandra Gupta Maurya, who was the emperor of India in the fourth centry B. C. At that time a party of Jaina Saints left for the South and went to Madras and Mysore to escape from the privations and sufferings of the famine. But some declined to go and prepared to bear the hardships. The Digambaras say that the Swetambaras arose at that time as the putting on of robes helped them to obtain their sustenance more easily.

Now let us study the intrinsic evidence furnished by certain facts. The first of these facts is that the Religion which was founded in the South by the Saints who went there at the time of the famine was the Digambara Religion and not the Swetambara. If the Swetambara Sect alone was in existence at the time of the Southward migration, how is it that they taught the Digambara Doctrine in the South? If both existed, then are we to imagine that the Swetambaras all remained behind and that the Digambaras alone went South? This is not very likely. Thus this circumstance, too points only to the existence of one Sect at that time, namely the Digambaras.

Certain striking differences between the teaching of the two Sects have also an important bearing upon the question under consideration. Three of these points may be mentioned here :—

(1) that women can obtain Salvation from the female body;

(2) that a Shûdra is not debarred from Salvation;

(3) that Mahāvîra ate Pigeon's flesh once when suffering from dysentery.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The Digambaras deny them all; the Swetambaras uphold them. Now the question is; which party is speaking the truth here, and reproducing the teaching of Mahāvîra? I cannot find any reason for the Digambara's refusing to acknowledge that a woman and a Shûdra are entitled to Salvation if an omniscient Teacher really taught so. They gain nothing by doing so. The most that can be said is that they have forgotten the teaching, but this is not a very convincing argument. On the otherhand, there may be a reason for the Swetambaras' innovation. We find that the Hindus also deny Salvation both to the female and the Shûdra, though they—at least a good many of them—do not object to eating animal flesh. Now these are just the particulars which would be helpful in widening the circle of the families whence food could be obtained. If the Jainas and the Hindus deny salvation to women and certain Saints said to the ladies: "We promise you salvation—we can show you the way to Nirvāna"—they are likely to be favourably received, which would mean better prospects of a meal. The same considerations apply to the case of the Shûdra. If the Shûdra is assured that he can obtain salvation, he would certainly like to follow the Teacher who promises it to him, rather than those who would debar him from it. These doctrines will naturally cause many a Hindu household to be thrown open to their preachers.

The likelihood of the Omniscient Mahāvira being compelled to attend to His physical ailments and of committing an act of *himsa* to allay His suffering is simply inconceivable to the Jaina mind. The idea is altogether repugnant to the Jainas. In modern times some of the Swetambaras themselves have begun to explain the Pigeon's flesh as meaning a kind of vegetable product. I myself was at one time inclined to look upon it as a form of symbolism, but when I enquired further into the Jaina literature, I was compelled to read it in the literal sense, as the Jaina books are non-allegorical. I should be happy to encourage the modern Swetambara interpretation of the term (pigeon's flesh) if it did not offend against the lexicographer's authority and sense.

Probably all this thinking was not done at the start. As the Digambaras say it was an unfortunate accident which at first led to

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

the adoption of the white robe. One of the saints was waylaid and pounced upon by a crowd of hungry beggars in some deserted place, who ripped open his stomach to get at the undigested meal. A sensation was created in the community. The laity then requested the saints to put on a single robe, so that nobody could see whether they had been partaking of food or not. This was done. Other points would naturally occur in course of time as opportunities presented themselves for the expansion of the circle of entertainers. The pigeon's flesh theory would be started if someone strayed, accidentally and without knowing, into a Hindu household where after eating his food he discovered that meat was also cooked in the house. He could then justify himself as having done no more than what Mahāvīra himself did in need.

It appears from all this that the attempt to show that the Swetambaras were the first in the field is foredoomed to failure. As a matter of fact, the Swetambaras themselves admit that the first Tîrthamkara was a Digambara; but, confining our survey to modern historical times, it is obvious that the Swetambaras arose during the time of the great famine, and composed books into which they introduced their new practices. The Swetambaras give themselves away when they say that although Mahāvîra disrobed Himself completely the King of Devas nevertheless threw over his shoulders a kind of celestial (and probably invisible) mantle, which went trailing behind the Divine Saint for several months. This, I imagine, is intended not to show that Mahāvîra did not appear nude to the beholder, but as a recognition of the Swetambara doctrine by the King of Devas. In reality, it only betrays undue anxiety to prove their case, so that it will be true to say of them that they seek to prove too much.

The above conclusions are in full agreement with the view of impartial authorities. I need only quote here a single quotation from the imperial Gazetteer of India (Vol. 1 page 414) in support of this :—

"The most important event in the history of the Order is the schism which led to the separation, maintained to this day, of the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Swetambara or 'White clothed' fraction ... ...from the Digambara, or those 'clothed with the sky'—in other words, the naked ascetics ... .who are probably the older."

To come to Gautama and Kesi's meeting and their talk upon which the Swetambaras have laid all the stress they can. No doubt, a person ignorant of the Jaina religious doctrine and of the attainments of men at the time of the Tîrthamkaras, may say whatever he likes, for he knows nothing about clairvoyance and the fourth kind of knowledge termed *manahparyaya jñāna* (knowledge), or the fact that humanity can attain to omniscienc; but these are settled facts in Jainism, and they are also supported by outside evidence. That being so; no historical speculations of men, ignorant of the Jaina religion and of the attainments of men on the Path, can be worth anything.

Now, Kesi was clairvoyant and Gautama was endowed with Manahparyaya jñāna and Clairvoyance both. The first question Kesi put to Gautama was why Mahāvîra insisted upon the observance of five vows when Pārsavanātha did not mention five but only four, excluding celibacy? But the question would have had a point if it could be shown that salvation could be obtained without the observance of celibacy. So far as I understand Swetambara books themselves insist upon an observance of this vow, and it is not possible that two omiscient teachers, *i.e.*, Pārśvanātha and Mahāvîra could teach different things.

The second question is about the discarding of clothes which has already been discussed herein at sufficient length. But Gautam's reply is striking. He is merely made to say that big men like Pārśvanatha and Mahāvîra know these things best. He does not attempt to defend his Master s practice, which is strange, to say the least of it.

The third and subsequent questions are as follows:—

(3) Being surrounded by enemies, how did you overcome them?

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(4) All people are bound in these bonds: how did you manage to break them?

(5) How did you uproot the poisonous creaper in the heart?

(6) How did you extinguish the flames of Fire (passion) burning in the heart?

(7) How did you control the vicious thoughts?

(8) How did you avoid wrong paths?

(9) What's the refuge of the souls that are being swept along in the stream?

(10) This body moves hither and thither: how, then, will you cross the sea?

(11) All souls are groping in the dark; who is going to remove this darkness?

(12) Which is the place that's free from pain?

Now, all these questions are simply silly when we consider the intellectual and spiritual attainments of the two men. Kesi is described as a philosopher, and Gautama was the head apostle of Mahāvira and had no equal in respect of debating skill, metaphysics, logic and other forms of dialectics. I have already said that they were both clairvoyant, and Gautama was endowed with another kind of Jñāna (knowledge) in addition. Clairvoyance in Jainism includes the knowledge of some of the past lives of oneself as well as of others, and Manahparyaya Jñāna, of the thoughts also of the living and the dead within certain limits.

Now, I should have expected, if these questions were put by Kesi with a view to testing Gautam's attainment that he would have asked him about his own previous lives so that he could check Gautam's answers with the revelations of his own clairvoyance in that regard. Kesi must have known and heard of Mahāvîra and he must have also known about Gautama if from no other source than

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

from his own clairvoyance, so that the knowledge about Gautama would fill him with veneration and respect for him rather than allow him to test his skill.

Besides, all these questions, beginning with the 3rd, involve no more than simple metaphors which ordinary school boys are expected to understand and to answer. Not one of them had the capacity to determine the measure and the profoundity of Gautam's knowledge. Further more, no such questions are allowed by the rules of saintly decorum. If the questioner is inferior in rank, he will simply venerate the superior one and ask for instruction; if they happen to be of equal attainments, then they will put their doubts before each other and try to solve them; but if he is superior, then he will simply wait till he is asked for enlightenment and then answer the questions that are put to him.

Thus far I have not referred to Gautam's answers; they all go to make things still more ridiculous.

In answer to the 3rd question, it is easy to understand that Karmas are the enemies of the soul; in answer to the fourth, the bonds referred to are the bonds of Karma; the poisonous creeper in the heart is, greed which can be destroyed by the renunciation of "desire"; the flames of heat (passion) in the sixth question can be easily extinguished with renunciation; the vicious thoughts in the 7th are the "Mind." In answer to the 8th, by following the true path one avoids the wrong ones; the place of refuge in the 9th question is religion; and the body is the boat which reaches the heaven if there is no influx of Karmas into it. That Mahāvîra was to destroy the darkness referred to in the 11th question does not involve much intelligent determination, and Nirvāna has always been, in the opinion of Aryan philosophers, the one place where there is no pain.

It would seem from the above that the Swetambaras' conciousness of their later origin worried them again and again so that various attempts were made by them to show that they were the prior in the field. The Gautam-Kesi discourse is one of such

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

attempts, which we have examined, and found to be valueless. It will be noticed that the Digambaras have never shown any such consciousness. The subject did not occur to them till in answer to Swetambara's claim to priority of origin they found themselves forced to defend their position.

I have based the above conclusions on the logic of facts alone, which is held to be irrefutable, but if anyone is interested in the philosophical side of the various points involved, he will do well to read my "Jaina Psychology," "What is Jainism" and "Jainism and World Problems" which will convince him as to why Salvation is not possible for the wearer of robes, why Tīrthamkaras do not partake of food, why Nirvāna is not attainable from the female body and the like.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Important Papers relating to Jainism etc.

[**The Ninth All-India Oriental Conference was held at Trivandrum (Travancore) on the 20th, 21st and 22nd of December 1937, under the Presidentship of Dr. F. W. Thomas, University of Oxford. The volume of the Summaries of Papers has just reached our hands. For the benefit of the readers of Jaina Antiquary we are reproducing here the summaries of some of the important papers relating to Jainology.**]—*Editor.*

I.

The Jains in Pudukkoṭṭa State.

The earliest evidence of Jainism in the State is the presence of polished stone beds in the natural cavern (Eḷadipattam) on the north-eastern side of the hill at Sittannavāsal which are rightly believed to be *Sallekhana* beds of Jain ascetics. An inscription in tha Brāhmī script of the third—second centries B. C. conclusively shows that it was an *adhishthānam.* Jain monasteries or *paḷḷis* were situated in some other natural caverns in the State, such as those on the Tenni-malai in Tīrumayam Taluk and the Aḷuruttimalai (Giripatana hill) offshoot of the Narttamalai hills, very near Ammachatram in the Koḷattūr Taluk; but these do not have stone beds, but have sculptures of Jain Tīrthankaras. The natural cavern on the Sevalur hill, though there are evidences of early habitation in the vicinity, has nothing to show that it was a Jain centre.

It is probable that these natural caverns were chiefly the places of Jain resort for worship or penance till we come to the period 7th to 9th centuries A. D., when many parts of the State came under the Pallava rulers of the Simhavishnu line. Even in these centuries when rock-cut cave temples after the Mahendra style, came into vogue these natural caverns persisted as places of Jain resort. The old Tamil inscriptions in the other beds of the natural cavern at Sittannavāsal referred to above, which can be Palaeographically assigned to the 8th-9th centuries, mention the names of Jain ascetics who perished their doing *Sallekhana.* The old Tamil inscriptions of

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

of the same period on the Tēnimalai hill, one under the image of a Tirthankara sculptured on the rock, and the other on a boulder opposite the natural cavern bear out this conclusion.

It was during these centuries (7th to 9th) of Pallava Rule that cave temples were scooped out of the rock, and among the many such temples of the Pallava period that abound in the Pudukkotta State, there are two which are distinctly Jain, while the others are dedicated either to Siva or Vishṇu. The cave temples on the western slopes of the Sittannavāsal hill cut in the time of Mahēndravarman is resorted to even to this day by Jain pilgrims from different parts of Southern India. Equally important as a place of Jain worship was the Samanar Kudagu on the Mēlamalai, called also Samanarmalai. By about the 12th or 13th century the Samaṇar Kudagu was converted into a Vishṇu temple.

The period of cave temples mas followed by one of structural temples; and in the State there are now evidences of a few Jain structural temples. One such assigned to the early Chola period (10th century) both on architectural and epigraphical evidences, is to be found in the ruins near Chettipatti (Koḷattur Taluk). This temple is built entirely of stone, is now being systematically excavated by the State Museum authorities, and the excavations have revealed so far the moulded basements of three shrines, one considerably larger than the other two. It is believed that there are at least three more shrines still lying buried, one parallel to the larger central shrine, and two smaller in front. The superstructures of the shrines have fallen down and lie scattered in the neighbourhood. From the many idols of Jain Tirthaṅkaras brought out during the excavation and from the small piece of inscription on the moulding of the basement of one of the shrines, and that on a slab by the side of a Tirthaṅkara a few furlongs off, which mentions the name of the place as Ainnūrruvaperumpaḷḷi of Tiruveṇṇāyil, it is clear that the place was once a flourishing Jain monastery. Tradition also confirms this, as the site is even to-day known as Samaṇarmēdu (Jain mound). This site has attracted the notice of the Archaeological Department of India who

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

have asked for particulars of the finds, and when the excavations are all completed and the temples renovated, we are sure that this group of shrines will prove a monument of very great interest.

The other Jain vestiges in the State are the numerous images in stone found in different parts of the State. On the outer hall of the Sittannavāsal cave temple, carved on either side of the entrance into the inner shrine are two Tīrthaṅkara images, Chandraprabha (eighth Tīrthaṅkara) and Pārśvanātha, and on the inner wall of the shrine proper there are three unidentified Tirthankaras. On the wall of the cavern in Tēnimalai is carved in high relief a Tirthankara image under a Mukkudai (*trichatra*) and two attendant Yakshiṇīs bearing cowries, and on the side is another Tirthankara with an inscription in old Tamil below. On the Āḷuruttimalai, there is a Jaina broken figure inside the cavern and a couple of others under *trichatras* (three umbrellas) outside. A little to the west of Ammāchatram in the neighbourhood are found out on a rock a Tirthankara under a *trichatra*, and from two inscriptions near by we learn that the rock, now called Bommaimalai, was calted Tentiruppaḷḷimalai. Other Tirthankara images found in the State are those at Kaṇṇangudi, between Kāyāmpatti and Veṇṇai-muttuppatti,- Annavāsal, Vīrakkudi (all in the Koḷattūr Taluk). Thekkāttūr in Tirumayam Taluk and Tirugokarṇam, a suburb of the capital. There are in the stone gallery of the State Museum quite a number of Jain images gathered from practically all over the State; and most of these images are seated in the *Samparyanka* pose under *trichatras.*

A few Jain bronzes of high artistic merit have been unearthed in the site of the once thriving town of Kalasamangalam (near the present capital town). Perhaps the most interesting of these finds is a *relievo* in bronze with the figures of the twenty-four Tirthankaras set in one *Tiruvācikai* like frame work attached to a *pītham* on which is a standing image of Rshabhadēva, with two attendant spirits Gomukha and Chakrēsvari, on either side of the base of the *pitham*, and the *lānchana* of a bull in the front of the *pitham.*

The Epigraphical references in the State to Jains and their temples and Arhats are many. There are the inscriptions in Brāhmī (3rd to

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

2nd B. C.) and in old Tamil (numbers 1 and 7 of the Pudukkotta State Inscriptions of the 8th and 9th centries A. D.) on the Sittannavāsal cavern stone-bed numbers 9 and 10 in old Tamil, in Tenimạlai of the 8-9th centuries, (one of which says that the hermitage was the place of penance of a Malayadhaja) number 158 on the Kadambarmalai at Nārttāmalai dated the 27th year of Kulottunga III—1205 A.D. (which mentions a grant of land to Siva temple and expressly states that a certain amount of lands belonging to *Aruhardevar* at Tirumānamalai (Ajuruttimalai ?) are to be excluded from *Dēvādanam*), No. 449 in Gudalur of the 8th year of Jat. Parakrama Pandya 1323 A. D. (registering the sale of lands and mentioning a list of lands excluded from the sale among which Jain endowments find a place), Nos. 463 and 464 of the time of Vīra Pāndya (Saka 1419-1497 A. D.) from virā chilai Tirumayam Taluk, No. 474 in Ammāchatram (mentioning the names of Darumadēya ācāryar and others, pupils of a Kanakacandrapaṇḍitar and Tiruppaḷḷimalai Āḷvār), No. 533 below the Jain image at Sadayappārai in Tirugōkarṇam dated the 24th year of an unidentified pāndya king Konērinmaikoṇḍān (which registers a royal order granting remission of the taxes on lands endowed by the owners of the Jain *Paḷḷi* for offerings and other expenses of Perunārkiḷḷi coḷaperumpaḷḷi Aḷvār of Kallārupaḷḷi of the place) ; No. 658 on Bommaimalai of the 6th year of a Konērinmai Koṇḍān (recording the gift of a village for offerings and expenses of the Nāyakkars of Tiruppaḷḷimalia and Tentiruppaḷḷimalai) and the inscription No. 1383 on a slab by the side of the Jain image at Kāyāmpatti (which refers to the Jain temples at Chettipatti as Ainnūrruvapperumpaḷḷi and the place as Tiruveṇṇāyil).

There are no monuments of Jainism in the State after the time of the establishment of Muhammadan rule of in the Carnatic. It is a curious phenomenon that the census of 1931 did not return even on Jain inhabitant in a State which for centuries had a large and thriving Jain population, though annually, the shrines in the State are visited by a large number of Jain pilgrims from Kumbakonam, Conjeevaram and other places.

K. R. Venkataraman, B.A., L.T.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

II.

The Language of the Kharosthi Inscriptions from Chinese Turkestan and the home of the Paisaci Prakrit.

These inscriptions, 764 in number, were discovered by Sir Aurel Stein from 1901 onwards, and edited by Messrs. Boyer, Rapson and Senart. Their language has been recognized by these as well as other scholars to be a from of Indian Prakrits.

My own study of these documents shows that the language used in them exhibits the characteristic features of *Paiśācī Prakrit* and that it might be taken to be an older form of the Paiśācī which is described by the later-day grammarians such as Vararucī, Hemacandra and others.

This conclusion throws some fresh light on the question of the original home of Paiśācī. It corroborates Grierson's view of the North-Western origin of Paiśācī. While the name '*Pishat*' on the North-Western borders of India where '*Pashāi*' and '*Pashto*' dialects now prevail, suggests the original home of Paiśācī, '*Su'ika,*' the ancient name of the area round about *Kashgar,* which appears in old Sanskrit texts, in Tibetan accounts and in one of the inscriptions themselves, might be taken to suggest that *Kashgar* and *Khotan* were probably the original home of *Cūilkā Paiśācī.*

This would bring the two Paiśācīs in line with the other Prakrits such as *Sauraseni, Māgadhi* and Mahārāshtrī, all of which bear regional names.

Prof. Hiralal Jain, M.A., LL.B.

III.

On the Authorship of a Mangala-verse in Inscriptions.

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्

जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

The above verse is used as a Mangala in many of the inscriptions in the South. It is found especially in Jaina records. In spite of the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

fact that its contents are associated with Jaina dogmatics, this Maṅgala is found even in non-Jaina records with a slight change as below.

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं शिवशासनम्॥

As yet the source of this verse was not known Just as *namastuṅga* etc., is a Maṅgala of *Harshacarita* of Bāṇa, it could be expected that this was also a Maṅgala-verse of some Jaina work. This expectation is now fulfilled by the discovery of *Pramāṇa saṁgraha* of Akalaṅka of which it is the opening Maṅgala. Akalaṅka is tentatively put in the last quarter of the seventh century at the latest. By studying the dates of all the records, in which this Maṅgala is found, it would be possible to settle the date of Akalaṅka more definitely and at the same time to put an earlier limit to the age of some of the undated records using this Mangala.

Prof. A. N. Upadhye, M.A.

IV.

Reference to 'Syadvada' in the Ardha-Magadhi Canon.

Anekāntavāda, which strikes an original note in the history of Indian logic, prepares a percipient for an all-sided apprehension of reality. It aims to achieve its purpose by realizing the object of knowledge as itself and as related with all others. Many points connected with Anekāntavāda required to be cleared by studying the original texts.

Attempts are made to trace the antecedents of Syādvāda in the various strata of Jaina literature. It is often remarked that the Ardhamāgadhi canon of the Svetāmbaras does not refer to Syādvāda.

So far as Digambara works are concerned, Kundakunda refers to Syādvāda or Saptabhaṅgī in his *Pañcāstikaya* and *Pravacanasāra* Turning to the Ardhamāgadhī canon, the three primary predications of Syādvāda are mentioned in the *Bhagavatisūtra*. As yet the canon is not exhaustively studied. However, Dr. W. *Schubring* has given us an authentic resume of the entire canon; and he states that the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

basic material for Syādvāda is already there, but the complete structure, which is later on known as Anekāntavāda is not explicitly found there. The attention of scholars is drawn to a couple of passages from the canan, which, I think, refer to Syādvāda or Saptabhangī.

Nandisutra, verse 30, mentions *bhangiya* possibly as a branch of knowledge, and it can be taken as Saptabhangī.

Sūyagadam, chap. 14 verse 19, gives an instruction '*nayāsiyāvāya viyāgarejjā*.' Sīlāṅkā takes '*yāsiyāvāya = ca āṣirvādam*, but the forms of *āsirvāda* do not justify this interpretation. It is better to take it as *ca asyādvādam*' and Sīlāṅka has no objection to the author's mention of Syādvāda in this context, as he himself interprets *vibhajjavāya* in verse 22 below as Syādvāda.

In a foot-note the various stages in the meaning of Vibhajyavāda are studied, and it is indicated that *Sūyagadam* might have used this term before Vibhajyavāda became a party-designation in the Buddhist church.

Prof. A. N. Upadhye, M.A.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

THE JAINA SIDDHĀNTA BHASKARA.

(*Gist of Our Hindi Portion : Vol IV, Pt. III*)

pp. 135—142. Pt. K. B. Shastri has dealt with the Jaina Mantra Śāstra, pointing out its place in Jainism and the literature extant on the subject. He has explained some technicalities of the Jaina Mantravāda, which he styles as 'Dakṣiṇamārgāvalambî' and of 'Kaśmîra-Sampradāya.'

pp. 143—150. Kamta Prasad Jain narrates the details of a Jaina Pilgrimage Sangha, which was taken out in bullock-carts from Mainpuri (U. P.) under the supervision of one Sāhu Dhanasinha in Vikrama Saṃvat 1867 and reached back after visiting Pryāga, Benares, Patna, Navādā, Sammeda-Sikhara and other Jain Tîrthas of northern India in 1868 A. V. The manuscript dealing with the subject is in the possession of the writer.

pp. 151—156. Jainism in Bengal (translated from Indian Culture).

pp. 157—164. Some important Historical events of 7th to 11th centuries A. D. are given.

pp. 165—175. Pt. Kailash Chandra Shastri criticises the date assigned to Bhaṭṭākalankadeva and puts him to the middle of 7th century A.D.

pp. 176—185. An ms. of 1680 A. Vik, belonging to the Dig. Jain Barā Mandir, Mainpuri has been dealt with.

pp. 186—187. Sj. A. Nahta names a few more Jaina works on astronomy and medicine.

K. P. Jain.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

AN APPEAL

To Members of the Jain Community.

Ancient Jain Literature, both in quality and quantity has an importance of which any community could well be proud. Unfortunately, much of this literature has not yet seen the light of day, inspite of so many charitable efforts towards that end. It is very desirable, both in the interest of Jain religion and culture and of the advancement of world knowledge, that this important branch of ancient literature should be made available to all, through proper edition and publication, as soon as possible.

Puṣpadanta, a prolific Jain writer of the 10th century, wrote his Mahāpurāṇa in Apabhraṃśa between 959 and 965 A. D., under the patronage of Bharata, the minister of Kṛṣṇa III of the Rāṣṭrakūṭa dynasty, and Jasaharacariu and Ṇāyakumāracariu, under the patronage of Nanna, Bharata's son, in the following years. Of these three works, the last-mentioned two were published in the two Kāranjā Series in 1931 and 1933 and were respectively edited by Dr. P. L. Vaidya of the Nowrosjee Wadia College, Poona and Professor Hiralal Jain of King Edward College, Amraoti. The Mahāpurāna is a huge work and will cover 2000 pages, of the royal size. The first volume of this work, covering about 720 pages, is edited by Dr. P. L. Vaidya and is just published as No. 37 of the Manickchand Digambara Jaina Granthamālā of Bombay, but the funds of this Series are now exhausted and one does not know how the two remaining volumes of the work are to be published.

The Mahāpurāṇa is as sacred to the Jainas as the Mahābhārata is to the Hindus. The poet has rightly observed :

अत्र प्राकृतलक्षणानि सकला नीतिः स्थितिश्छन्दसा-
मर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्त्वार्थनिर्णीतयः ।
किं चान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते
द्वावेतौ भरतेशपुष्पदशनौ सिद्धं ययोरीदृशम् ॥

in the same spirit which prompted Vyāsa of the Mahābhārata to say,

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The value of this work from linguistic point is very great. It is written in the Apabhraṃśa language which is the fore-runner of all modern languages of Northern India such as Marathi, Gujarati, Hindi, Bengali, etc., and it is expected that the publication of this work will immensely help their studies.

The Editor of the work and the Secretaries of the Series, therefore, appeal to Jains, who by nature and tradition are philanthropic, to come forward to help them by generous donations to complete the publication of this great and sacred work, and thus help the cause of preservation of Jain culture. They propose that the Public render the required help under three heads :—

1. The published volume of the Mahāpurāṇa (superior edition, bound in cloth) should be purchased for the cash price of Rs. Ten :
2. An advance subscription of Rs. Ten per volume for the next two volumes should be paid immediately :
3. Rs. Seventy should be donated towards the printing expenses and clerical assistance to the Editor. (It should be noted that the Editor has not received any remuneration for the first volume and does not expect any for the remaining ones).

In other words, the Editor and the Secretaries appeal to the Jain community to help them by a contribution of Rs. ONE HUNDRED to enable them to complete the work on a sort of co-operative basis, and they promise to give to the Donors the complete work of the Mahāpurāṇa in three volumes and in addition, agree to include in a Special Dedication Page in the volumes so prepared the names of all those who contribute the above sum. They hope that this appeal will receive a generous response early so that the Editor will be able to proceed, without gap, with the work which he voluntarily undertook some seven years back.

It is expected that the printing of the remaining two volumes will cost about Rs. 8,000, and will be commenced as soon as some

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

eighty donors of Rs. one hundred are found out. The enclosed page will give the idea of the Typography. size and general format.

All donations which will be earmarked for this purpose should be paid to the Treasurer, Seth Thackordas Bhagwandas, 190 Jhavery Bazar, Bombay, who will pass a receipt for the amount.

P. L. VAIDYA,
Editor.

HIRALAL JAIN,

NATHURAM PREMI,
Secretaries.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

"INDIAN CULTURE."

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted under the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandirkar, B. M. Barua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of such eminent orientalists as Sir, Brajendra Nath Seal, Sir D. B. Jayatilaka, Drs. S. N. Das Gupta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee P. K. Acharya, MMs. Kuppuswami Sastri, Gananath Sen, and others; each of whom represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philoshopy, Buddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Polit ics and Sociology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian Culture, etc. Among the contributors are the best orientalists of India and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A. B. Keith, Drs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K. Acharya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive get up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price very moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage)

Among the other publications of the Institute, which aims at wide propagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication of the best products of Ancient Literature under various Series-Vedic, Buddhistic, Jain, etc., are :—

(1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research note in English, Bengali and Hindi,

(2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.

(3) Barhut, 3 Vols. Rs. 18.

(4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.

(5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.

(6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute.
170 Maniktala Street.
Calcutta, (India),

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ॐ

THE

JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

VOL. III—1937.

Editors:

Prof. **HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,**
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. **A. N. UPADHYE, M.A.,**
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur**, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah. U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah.**

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 4-8.** **Single Copy 1-4.**

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

CONTENTS

Pages.

1. A Jaina Tirthankara in a Budhist Mandala [*Prof. Dr. H. v. Glassenapp, Ph. D.*] ... 47
2. An Appeal to Members of the Jain Community ... 111—113
3. History & Principles of Jaina Law [*M. C. Jain, M.A., LL.B.*] ... ... 9—15
4. Important Papers relating to Jainism etc. ... 103—
5. Knowledge and Conduct in Jaina Scriptures [*Principal Kalipada Mitra, M.A., B.L., Sahityakaustubha*]... 67—73
6. Mystic Elements in Jainism [*Prof. A. N. Upadhye*] ... 27—30
7. New Studies in Jainism, [*Barom B. Seshagiri Rao, M.A., Ph. D., M.S.A.*] ... ... 43—46
8. Oldest Jain Images Discovered [*Dr. K. P. Jayaswal Interviewed*] ... ... 17—18
9. Obituary [O. Stein] ... ... 49—51
10. Podanpura and Taksasila [*Kamta Prasad Jain, M.R.A.S.*] ... ... 57—66
11. Review 26
12. Studies in the Prabhāvaka-Charitra [*Dasharatha Sharma, M.A.*] ... ... 1—7
13. Select Contributions to Oriental Journals ... 55
14. Select Contributions to Oriental Journals ... 82
15. Some Brahmanical Deities in Jaina Religions Art [*By Vasudeva Sharana Agrawala, M.A., Curator, Mathura Museum* ... ... 83—92
16. The Jaina Chronology [*By K. P. Jain, M.R.A.S.* ... 19—25
17. The Jaina Calendar [*Dr. Sukumar Ranjan Das, M.A., Ph. D.*] ... ... 31—36
18. The Jaina Chronoloy [*K. P. Jain, M.R.A.S.*] ... 37—41
19. The Jaina Sidhānta Bhāskara (*our Hindi Portion Vol. IV—I*) ... ... 53—54
20. The Jaina Chronology [*Kamta Prasad Jain, M.R.A S.*] 75—79
21. The Jain Siddhānta Bhāskara (*Gist of our Hindi Portion Vol. IV—II*) 80
22. The Origin of the Swetambara Sect. [*C. R. Jain*] ... 93—102
23. The Jaina Sidhānta Bhāskara, (*Gist of Our Hindi Portion Vol. IV*, pt. *III* 110

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

RULES.

1. The " Jaina Antiquary " (जैन-सिद्धान्त भास्कर) is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June. September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The " Jaina Antiquary "
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, " JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

(१)	मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ...	२।)
	(मू० कम कर दिया गया है)	
(२)	ज्ञानप्रदोपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ...	१)
(३)	प्रतिमा-लेख-संग्रह	॥)
(४)	जैन-सिद्धान्त भास्कर, १म भाग की १म किरण ...	१)
(५)	” २य तथा ३य सम्मिलित किरणें ...	१।)
(६)	” २य भाग की चारों किरणें ...	४)
(७)	” ३य ” ” ...	४)
(८)	भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ...	॥)
	(यह अर्ध मूल्य है)	
(९)	भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ...	॥।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

RULES.

1. The "Jaina Antiquary" (जैन-सिद्धान्त भास्कर) is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June. September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)
(मू० कम कर दिया गया है)

(२) ज्ञानप्रदोपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ... ।।)

(४) जैन-सिद्धान्त भास्कर, १म भाग की १म किरण ... १)

(५) " २य तथा ३य सम्मिलित किरणें ... १।)

(६) " २य भाग की चारों किरणें ... ४)

(७) " ३य " " ... ४)

(८) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... ।।)
(यह अर्ध मूल्य है)

(९) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ।।।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust